श्रा तरापथ द्विशताब्दी समारोह

के

अभिनन्दन में

जैन दर्शन
में
प्रमाण-मीमांसा

मुनि नथमल

प्रबन्ध-सम्पादक
छगनलाल शास्त्री

प्रकाशक—
सेठ मन्नालालजी सुराना
मेमोरियल ट्रस्ट
८१, सदर्न एवेन्यू, कलकत्ता-२६

प्रबन्धक—
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

जैन दर्शन ग्रन्थमाला :
पन्द्रहवा पुष्प

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

प्रथम सस्करण १००० : मूल्य ६ रुपये

प्रज्ञापना

अर्थ के सम्यक् निर्णयन के लिए न्याय शास्त्र की अपनी उपयोगिता है। जैन दर्शन का न्याय भाग अत्यन्त समृद्ध एवं उन्नत रहा है। बीजरूप मे इसकी परम्परा उतनी ही प्राचीन है, जितना जैन वाङ्मय का शाश्वत स्रोत। स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में उत्तरवर्ती काल मे यह विस्तृत विकास पाता रहा है। जैन दर्शन के यथावत् अनुशीलन के लिए उसके न्याय भाग अथवा प्रमाण-विश्लेषण को जानना अति आवश्यक है।

महान् द्रष्टा, जनवन्द्य आचार्यश्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा रचे 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' से गृहीत 'जैन दर्शन में प्रमाण-मीमासा' नामक यह पुस्तक जैन न्याय-शास्त्र पर हिन्दी भाषा में अपनी कोटि की अनूठी रचना है। न्याय-शास्त्र की उपयोगिता, जैन न्याय का उद्गम और विकास, प्रमाण का स्वरूप, वाक्-प्रयोग, सप्त भंगी, नय, निक्षेप, कार्यकारणवाद प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का मुनिश्री ने इसमे सांगोपाग विवेचन किया है। न्याय या तर्क जैसे जटिल और क्लिष्ट विषय को उन्होंने प्राञ्जल एवं प्रसादपूर्ण शब्दावली मे रखने का जो प्रयास किया है, उससे इस दुरूह विषय को हृदयसात् करने मे पाठको को बड़ा सौविध्य रहेगा।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन मे इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापन्थ का प्रसार, तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन में संचार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्य-पूर्ति का जो महत्त्वपूर्ण कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन मे सत्तत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिये चलनेवाले इस ट्रस्ट के सस्थापन द्वारा प्रमुख समाजसेवी, साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियो के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हे सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिये कार्य करता आ रहा है, इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रवन्ध-भार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

आशा है, जैन न्याय में प्रवेश पाने में यह पुस्तक लाभकारी सिद्ध होगी।

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा ११, २०१७,

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ,

विषयानुक्रमणिका

एक

जैन न्याय

न्याय और न्याय शास्त्र

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय—तर्क विद्या है।

न्याय का शाब्दिक अर्थ[1] है—प्राप्ति' और पारिभाषिक अर्थ है—"युक्ति के द्वारा पदार्थ—प्रमेय—वस्तु की परीक्षा करना [2]।" एक वस्तु के बारे मे अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है [3]।

'क' के बारे में इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देने वाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए। अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नही हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) में साध्य-साधन की स्थिति अनुकूल हो, दोनो (साध्य-साधन) में विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'क' एक अक्षर (साध्य) है क्योंकि उसके दो टुकड़े नहीं हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है। क्योंकि वह वर्ण-माला का एक अंग है, इसलिए 'चन्द्र' का मत गलत है। कारण, इसमें साध्य-साधन की सगति नही है। 'ए' वर्ण-माला का अंग है फिर भी अक्षर नही है। वह 'अ+इ' के संयोग से बनता है, इसलिए संयोगज वर्ण है।

न्याय-पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्याय-शास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य अंग चार हैं[4]—

१—तत्त्व की मीमांसा करने वाला—प्रमाता (आत्मा)

२—मीमांसा का मानदण्ड—प्रमाण (यथार्थ ज्ञान)

३—जिसकी मीमासा की जाए—प्रमेय (पदार्थ)

४—मीमांसा का फल—प्रमिति (हेय-उपादेय-मध्यस्थ-बुद्धि)

न्याय शास्त्र की उपयोगिता

प्राणी मात्र में अनन्त चैतन्य होता है। यह सत्तागत समानता है। विकास की अपेक्षा उसमें तारतम्य भी अनन्त होता है। सब से अधिक

विकासशील प्राणी मनुष्य है। वह उपयुक्त सामग्री मिलने पर चैतन्य विकास की चरम सीमा केवल-ज्ञान तक पहुँच सकता है। इससे पहली दशाओं में भी उसे बुद्धि-परिष्कार के अनेक अवसर मिलते हैं।

मनुष्य जाति में स्पष्ट अर्थ बोधक भाषा और लिपि-संकेत—ये दो ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके द्वारा उसके विचारों का स्थिरीकरण और विनिमय होता है।

स्थिरीकरण का परिणाम है साहित्य-वाङ्मय और विनिमय का परिणाम है आलोचना।

ज्यों-ज्यों मनुष्य की ज्ञान, विज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों साहित्य अनेक दिशागामी बनता चला जाता है।

जैन-वाङ्मय में साहित्य की शाखाएं चार हैं—

(१) चरणकरणानुयोग—आचार-मीमांसा—उपयोगितावाद या कर्तव्य-वाद (कर्तव्य-अकर्तव्य-विवेक) यह आध्यात्मिक पद्धति है।

(२) धर्मकथानुयोग—आत्म-उद्बोधनशिक्षा (रूपक, दृष्टान्त और उपदेश)

(३) गणितानुयोग…गणितशिक्षा।

(४) द्रव्यानुयोग ·अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।

तर्क-मीमासा और वस्तु-स्वरूप-शास्त्र आदि का समावेश इसमें होता है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह दस प्रकार का है—

(१) द्रव्यानुयोग—द्रव्य का विचार।

जैसे—द्रव्य गुण-पर्यायवान् होता है। जीव में ज्ञान, गुण और सुख दुःख आदि पर्याय मिलते हैं, इसलिए वह द्रव्य है।

(२) मातृकानुयोग—सत् का विचार।

जैसे—द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने के कारण सत् होता है। जीव स्वरूप की दृष्टि से ध्रुव होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उत्पाद-व्यय-धर्म वाला है, इसलिए वह सत् है।

(३) एकार्थिकानुयोग—एक अर्थ वाले शब्दो का विचार।

जैसे—जीव, प्राणी, भूत, सत्त्व आदि-आदि जीव के पर्यायवाची नाम है।

(४) करणानुयोग—साधन का विचार (साधकतम पदार्थ-मीमांसा)

जेसे—जीव काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ पाकर कार्य मे प्रवृत्त होता है।

(५) अर्पितानर्पितानुयोग—मुख्य और गौण का विचार (भेदाभेद-विवक्षा)

जैसे—जीव अभेद-दृष्टि से जीव मात्र है और भेद-दृष्टि की अपेक्षा वह दो प्रकार का है—वद्ध और मुक्त। बद्ध के दो भेद हैं—(१) स्थावर (२) त्रस, आदि-आदि।

(६) भाविताभावितानुयोग—अन्य से प्रभावित और अप्रभावित विचार।

जैसे—जीव की अजीव द्रव्य या पुद्गल द्रव्य प्रभावित अशुद्ध दशाएं, पुद्गल मुक्त स्थितिया शुद्ध दशाएं।

(७) वाह्यावाह्यानुयोग—सादृश्य और वैसादृश्य का विचार।

जैसे—सचेतन जीव अचेतन आकाश से वाह्य (विसदृश) है और आकाश की भाति जीव अमूर्त्त है, इसलिए वह आकाश से अवाह्य (सदृश) है।

(८) शाश्वताशाश्वतानुयोग—नित्यानित्य विचार। जैसे—द्रव्य की दृष्टि से जीव अनादि-निधन है, पर्याय की दृष्टि से वह नए-नए पर्यायो में जाता है।

(९) तथाज्ञानअनुयोग—सम्यग् दृष्टि जीव का विचार।

(१०) अतथाज्ञानअनुयोग—असम्यग् दृष्टि जीव का विचार [५]।

एक विषय पर अनेक विचारकों की अनेक मान्यताएं अनेक निगमन—निष्कर्ष होते हैं। जैसे—आत्मा के वारे मे—

अक्रियावादी-नास्तिक · आत्मा नही है।

क्रियावादी—आस्तिक दर्शनो मे :—

कथा तीन प्रकार की होती है[११]—(१) अर्थ-कथा (२) धर्म-कथा (३) काम-कथा [१२]। धर्म-कथा के चार भेद हैं [१३]। उनमें दूसरा भेद है—विक्षेपणी। इसका तात्पर्य है—धर्म-कथा करने वाला मुनि (१) अपने सिद्धान्त की स्थापना कर पर सिद्धान्त का निराकरण करे [१४]। अथवा (२) पर सिद्धान्त का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करे। (३) पर सिद्धान्त के सम्यग्वाद को बताकर उसके मिथ्यावाद को बताए अथवा (४) पर सिद्धान्त के मिथ्यावाद को बताकर उसके सम्यग्वाद को बताए।

तीन प्रकार की वक्तव्यता[१५]—

(१) स्व सिद्धान्त-वक्तव्यता।

(२) पर सिद्धान्त-वक्तव्यता।

(३) उन दोनो की वक्तव्यता।

स्व सिद्धान्त की स्थापना और पर सिद्धान्त का निराकरण वाद विद्या में कुशल व्यक्ति ही कर सकता है।

भगवान् महावीर के पास समृद्धवादी सम्पदा थी। चार सौ मुनि वादी थे [१६]।

नौ निपुण पुरुषों में वादी को निपुण (सूक्ष्म ज्ञानी) माना गया है [१७]।

भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टान्त) और हेतु के प्रयोग में कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी बताया है [१८]।

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छह प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथाङ्गों का प्रचुर मात्रा मे निरूपण मिलता है।

तर्क-पद्धति के विकीर्ण बीज जो मिलते हैं, उनका व्यवस्थित रूप क्या था, यह समझना सुलभ नहीं किन्तु इस पर से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के आगम-युग में भी परीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कई तीर्थिक जीव-हिंसात्मक प्रवृत्तियों से 'सिद्धि' की प्राप्ति बताते हैं, उनके इस

अभिमत को 'अपरीक्ष्य दृष्ट' कहा गया है [१९]। "सत्-असत् की परीक्षा किये बिना अपने दर्शन की श्लाघा और दूसरे दर्शन की गर्हा कर स्वयं को विद्वान् समझने वाले संसार से मुक्ति नही पाते [२०]।" इसलिए जैन परीक्षा-पद्धति का यह प्रधान पाठ रहा है कि "स्व पक्ष-सिद्धि और पर पक्ष की असिद्धि करते समय आत्म-समाधि वाले मुनि को 'बहुगुण प्रकल्प' के सिद्धान्त को नही भूलना चाहिए। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन अथवा मध्यस्थ वचन (निष्पक्ष वचन) ये बहु गुण का सर्जन करने वाले हैं। वादकाल में अथवा साधारण वार्तालाप में मुनि ऐसे हेतु आदि का प्रयोग करे, जिससे विरोध न बढ़े—हिंसा न बढ़े [२१]।"

वादकाल में हिंसा से बचाव करते हुए भी तत्त्व-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहते, तब उन्हे प्रमाण-मीमांसा की अपेक्षा होती, यह स्वयं गम्य होता है।

जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त है—(१) आगम और (२) ग्रन्थ।

आगम के दो विभाग हैं—अंग और अंग अतिरिक्त-उपांग।

अंग स्वतः प्रमाण है [२२]। अंग-अतिरिक्त साहित्य वही प्रमाण होता है, जो अंग-साहित्य का विसंवादी नही होता।

केवली, अवधि ज्ञानी, मनः पर्यव ज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और नवपूर्वधर (दशवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु सहित) ये आगम कहलाते हैं [२३]। उपचार से इनकी रचना को भी 'आगम' कहा जाता है [२४]।

अन्य स्थविर या आचार्यो की रचनाओ की संज्ञा 'ग्रन्थ' है। इनकी प्रामाणिकता का आधार आगम की अविसंवादकता है।

अंग-साहित्य की रचना भगवान् महावीर की उपस्थिति में हुई। भगवान् के निर्वाण के बाद इनका लघु-करण और कई आगमो का संकलन और संग्रहण हुआ। इनका अन्तिम स्थिर रूप विक्रम की ५ वी शताब्दी से है।

आगम-साहित्य के आधार पर प्रमाण-शास्त्र की रूप-रेखा इस प्रकार बनती है—

१—प्रमेय—सत्।

सत् के तीन रूप हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय की समष्टि—पर्याय।

ध्रौव्य—गुण।

गुण और पर्याय की समष्टि—द्रव्य।
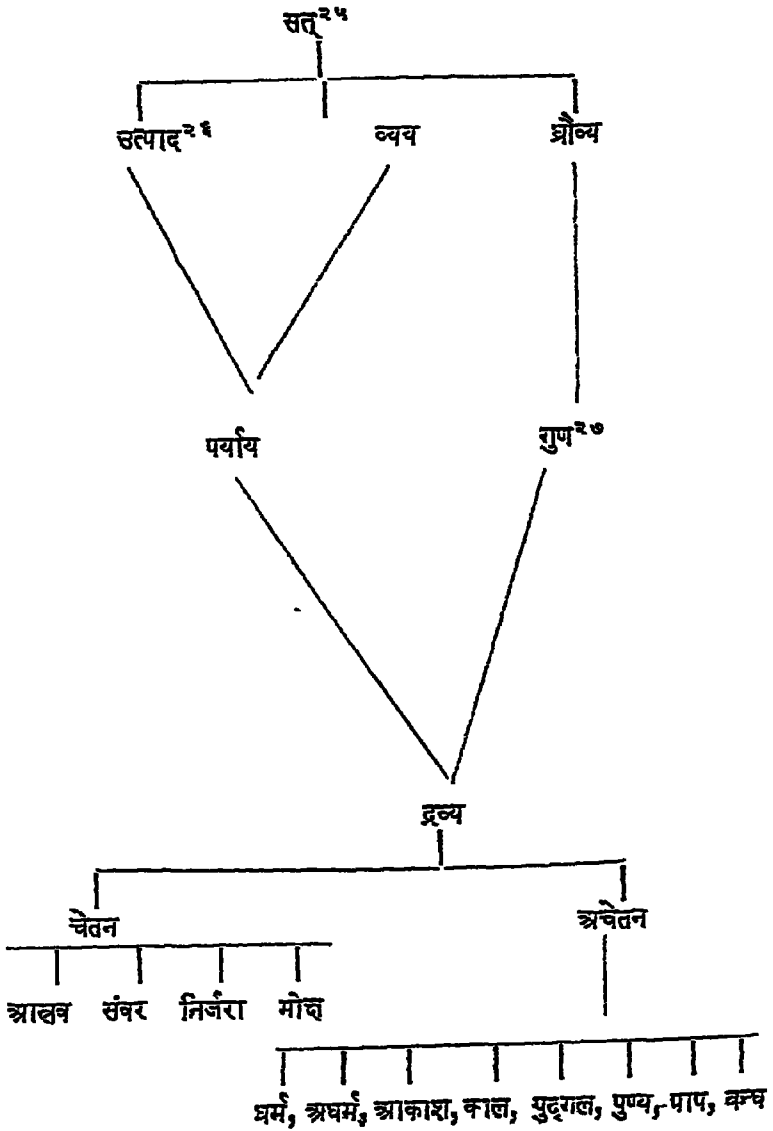
२—प्रमाण—यथार्थ ज्ञान या व्यवसाय।

[भगवती के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था [२८]]

प्रमाण
- प्रत्यक्ष
- अनुमान
- उपमा
- आगम

(शेष अनुयोग द्वारवत्)
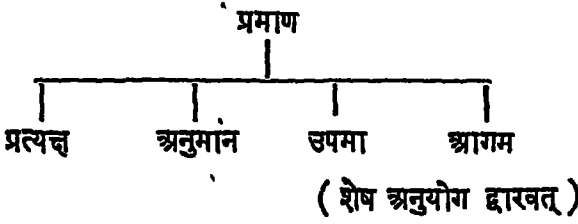
[स्थानाङ्ग सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था]

व्यवसाय[२९]
- प्रत्यक्ष
- प्रात्ययिक
- आनुगमिक
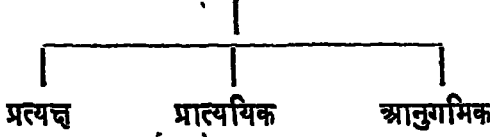
अथवा—(द्वितीय प्रकार [३०])

ज्ञान दो प्रकार का होता है—१—प्रत्यक्ष २—परोक्ष

प्रत्यक्ष के दो भेद···१—केवल-ज्ञान २—नो केवल-ज्ञान

केवल-ज्ञान के दो भेद···१—भवस्थ केवल-ज्ञान २—सिद्ध केवल-ज्ञान

भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद···१—संयोगि-भवस्थ केवल ज्ञान

२—अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद—

(१) प्रथम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

(२) अप्रथम समय संयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान

अथवा—[१] चरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

[२] अचरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद··(१) प्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान

(२) अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ केवल ज्ञान।

अथवा—(१) चरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान

(२) अचरम- समय -अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद............(१) अनन्तर सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

अनन्तर सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद......(१) एकान्तर सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) अनेकान्तर सिद्ध-केवल-ज्ञान

परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद......(१) एक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) अनेक परम्परसिद्ध-केवल-ज्ञान

नो केवल ज्ञान के दो भेद..............(१) अवधि-ज्ञान (२) मनः-पर्यव ज्ञान

अवधि ज्ञान के दो भेद. ....(१) भव-प्रप्रात्यिक
(२) क्षायोपशमिक

मनः पर्यव के दो भेद...............(१) ऋजुमति (२) विपुलमति

परोक्ष ज्ञान के दो भेद...............(१) आभिनिबोधिक ज्ञान
(२) श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद.........(१) श्रुत-निश्रित (२) अश्रुत-निश्रित

श्रुत-निश्रित के दो भेद....... ....(१) अर्थावग्रह (२) व्यञ्जना-वग्रह

अश्रुत-निश्रित के दो भेद........ ......(१) अर्थावग्रह (२) व्यञ्जना-वग्रह

अथवा—तृतीय प्रकार[31]

(अनुयोग[32] द्वार के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)

ज्ञान—प्रमाण
प्रत्यक्ष
अनुमान
उपमान
आगम
इन्द्रिय प्रत्यक्ष
नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष
श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्शन, चक्षु
अवधि
मनःपर्यव
केवल
(नन्दी सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)
ज्ञान
प्रत्यक्ष
परोक्ष
इन्द्रिय प्रत्यक्ष
नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष
श्रोत्र
घ्राण
जिह्वा
स्पर्शन
चक्षु
अवधि
मनःपर्यव
केवल
मति
श्रुत
श्रुत-निश्रित
अश्रुत-निश्रित
(सविकल्पक-प्रत्यक्ष)
औत्पत्तिकी
वैनयिकी
कामिकी
पारिणामकी
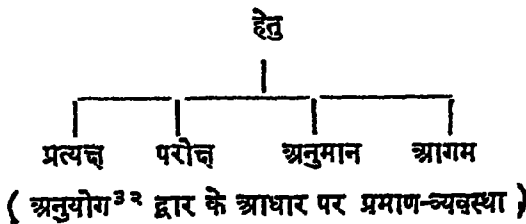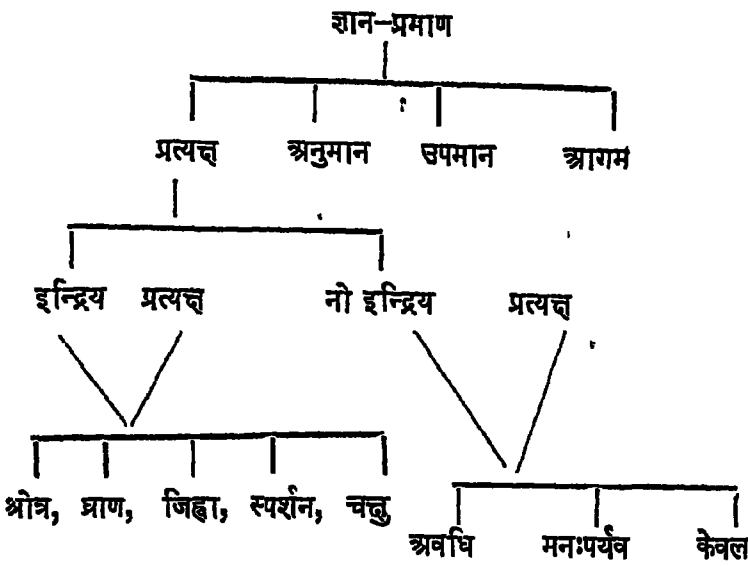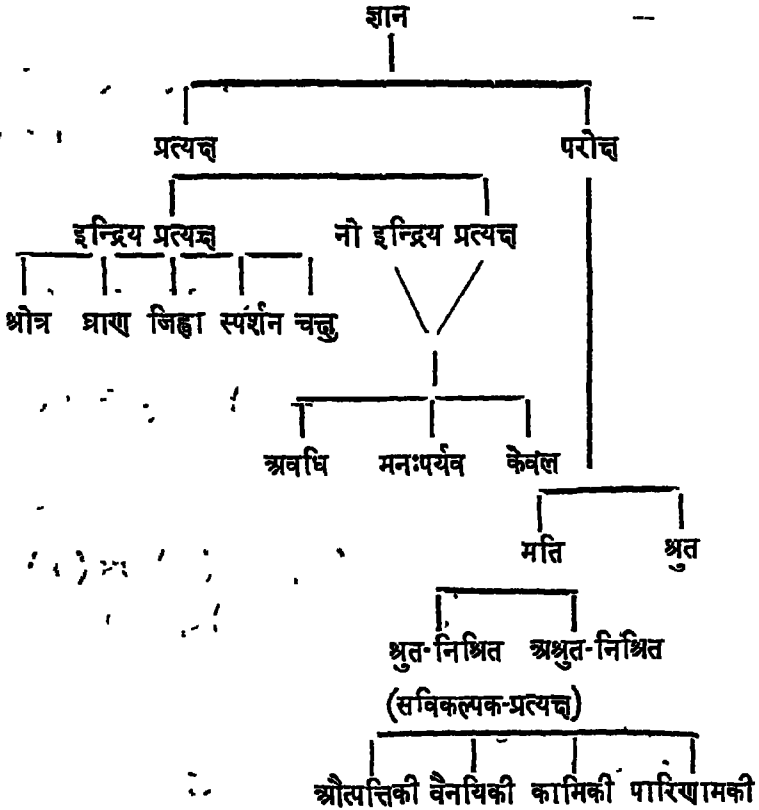
अनुमान का परिवार :—
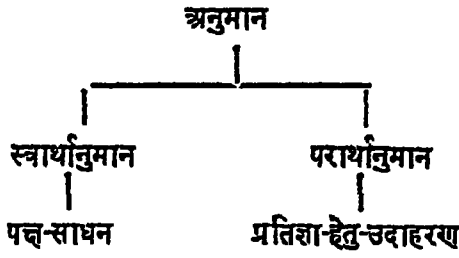
३—प्रमिति—प्रमाण फल :—
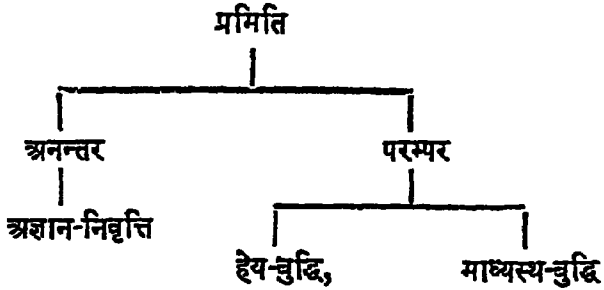
४—प्रमाता—ज्ञाता—आत्मा।

५—विचार-पद्धति—अनेकान्त-दृष्टि—

प्रमेय का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय आदि विरोधी धर्म-युगलों का एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से स्वीकार।

६—वाक्य-प्रयोग—स्याद्वाद और सद्वाद :—

(क) स्याद्वाद—अखण्ड वस्तु का अपेक्षा-दृष्टि से एक धर्म को मुख्य और शेष सब धर्मों को उसके अन्तर्हित कर प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'प्रमाण वाक्य' है। इसके तीन रूप हैं :—(१) स्यात्-अस्ति (२) स्यात्-नास्ति। (३) स्यात्-अवक्तव्य।

(ख) सद्वाद—वस्तु के एक धर्म का प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'नय-वाक्य' है। इसके सात भेद हैं—(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार (४) ऋजुसूत्र (५) शब्द (६) समभिरूढ़ (७) एवम्भूत।

हेतु

चार प्रकार के हेतु[३३] :—

(१) विधि-साधक विधि-हेतु।

(२) निषेध-साधक विधि-हेतु।
(३) विधि-साधक निषेध हेतु।
(४) निषेध-साधक निषेध-हेतु।

द्वितीय प्रकार :—

चार प्रकार के हेतु[34] :—

(क) यापक—समय यापक हेतु। विशेषण-बहुल, जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके।

(ख) स्थापक—प्रसिद्ध-व्याप्तिक साध्य को शीघ्र स्थापित करने वाला हेतु।

(ग) व्यंसक—प्रतिवादी को छल में डालने वाला हेतु।

(घ) लूषक—व्यंसक से प्राप्त आपत्ति को दूर करने वाला हेतु।

आहरण

चार प्रकार के आहरण[35]—

(क) अपाय :—हेयधर्म का ज्ञापक दृष्टान्त।

(ख) उपाय :—ग्राह्य वस्तु के उपाय बताने वाला दृष्टान्त।

(ग) स्थापना कर्म—स्वाभिमत की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला दृष्टान्त।

(घ) प्रत्युत्पन्न-विनाश :—उत्पन्न दूषण का परिहार करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला दृष्टान्त।

आहरण के दोष

चार प्रकार के आहरण—दोष[36] :—

(क) अधर्मयुक्त :—अधर्मबुद्धि उत्पन्न करने वाला दृष्टान्त।

(ख) प्रतिलोम :—अपसिद्धान्त का प्रतिवादक दृष्टान्त।

अथवा—"शठे शाठ्यं समाचरेत्"—ऐसी प्रतिकूलता की शिक्षा देने वाला दृष्टान्त।

(ग) आत्मोपनीत :—परमत मे दोष दिखाने के लिए दृष्टान्त रखना, जिससे स्वमत दूषित बन जाए।

(घ) दुरुपनीत :—दोषपूर्ण निगमन वाला दृष्टान्त।

वाद के दोष[३७]

(१) तज्जात दोष—वादकाल में आचरण आदि का दोष बताना अथवा प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।

(२) मतिभग दोष—तत्त्व की विस्मृति हो जाना।

(३) प्रशास्तृ दोष—सभानायक या सभ्य की ओर से होने वाला प्रमाद।

(४) परिहरण दोष—अपने दर्शन की मर्यादा या लोक-रूढ़ि के अनुसार अनासेव्य का आसेवन करना अथवा आसेव्य का आसेवन नहीं करना अथवा वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु को सम्यक् प्रतिकार न करना।

(५) स्वलक्षण दोष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव।

(६) कारण-दोष—कारण ज्ञात न होने पर पदार्थ को अहेतुक मान लेना।

(७) हेतु-दोष—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।

(८) संक्रामण-दोष—प्रस्तुत प्रमेय में अप्रस्तुत प्रमेय का समावेश करना अथवा परमत का अज्ञान जिस तत्त्व को स्वीकार नहीं करता उसे उसका मान्य तत्त्व बतलाना।

(९) निग्रह-दोष :—छल आदि से निगृहीत हो जाना।

(१०) वस्तु दोष (पक्ष-दोष) १—प्रत्यक्षनिराकृत—शब्द अश्रावण है।
२—अनुमान ,, शब्द नित्य है।
३—प्रतीति ,, शशी अचन्द्र है।
४—स्व वचन ,, मैं कहता हूँ, वह मिथ्या है।
५—लोकरूढ़ि ,, मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

विवाद[३८]

(१) अपसरण—अवसर लाभ के लिए येन-केन प्रकारेण समय बिताना।

(२) उत्सुकीकरण—अवसर मिलने पर उत्सुक हो जय के लिए वाद करना।

(३) अनुलोमन—विवादाध्यक्ष को 'साम' आदि नीति के द्वारा अनुकूल बनाकर अथवा कुछ समय के लिए प्रतिवादी का पक्ष स्वीकार कर उसे अनुकूल बनाकर वाद करना।

(४) प्रतिलोमन—सर्व-सामर्थ्य-दशा में विवादाध्यक्ष अथवा प्रतिवादी को प्रतिकूल बनाकर, वाद करना।

(५) संसेवन—अध्यक्ष को प्रसन्न रख वाद करना।

(६) मिश्रीकरण या भेदन—निर्णय दाताओं में अपने समर्थकों को मिश्रित करके अथवा उन्हे (निर्णय दाताओं को) प्रतिवादी का विरोधी बनाकर वाद करना।

प्रमाण व्यवस्था का आगमिक आधार

(१) प्रमेय :—

प्रमेय अनन्त धर्मात्मक होता है। इसका आधार यह है कि वस्तु में अनन्त-पर्यव होते हैं।

(२) प्रमाण :—

प्रमाण की परिभाषा है—व्यवसायी ज्ञान या यथार्थ ज्ञान। इनमें पहली का आधार स्थानाङ्ग (३-३-१८५) का 'व्यवसाय' शब्द है। दूसरी का आधार ज्ञान और प्रमाण का पृथक्-पृथक् निर्देशन है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सामान्य के निरूपण में ज्ञान पांच बतलाये हैं [३९]।

प्रमाण यथार्थ ज्ञान ही होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के निरूपण में वे दो बन जाते हैं [४०]। प्रत्यक्ष और परोक्ष।

(३) अनुमान का परिवार :—

अनुयोग द्वार के अनुसार श्रुतज्ञान परार्थ और शेष सब ज्ञान स्वार्थ हैं। इस दृष्टि से सभी प्रमाण जो ज्ञानात्मक हैं, स्वार्थ हैं और वचनात्मक हैं, वे परार्थ हैं। इसीके आधार पर आचार्य सिद्धसेन,[४१] वादी देवसूरि प्रत्यक्ष को परार्थ मानते हैं [४२]।

अनुमान, आगम आदि की स्वार्थ-परार्थ रूप द्विविधता का यही आधार है।

(४) प्रमिति :—

प्रमाण का साक्षात् फल है अज्ञान निवृत्ति और व्यवहित फल है हेयबुद्धि और मध्यस्थबुद्धि। इसका आधार श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान और संयम का क्रम है। श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का विज्ञान, विज्ञान का

प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल है संयम। दर्शनावरण के विलय से 'सुनना' मिलता है। श्रुत-अर्थ में ज्ञानावरण के विलय से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये होते हैं। इनसे ज्ञान होता है, अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर विज्ञान होता है—हेय, उपादेय की बुद्धि बनती है। इसके बाद हेय का प्रत्याख्यान—त्याग होता है। त्याग के पश्चात् संयम। आध्यात्मिक दृष्टि से यावन्मात्र पर-संयोग है, वह हेय है। पर-संयोग मिटने पर संयम आता है, अपनी स्थिति में रमण होता है। वह बाहर से नहीं आता, इसलिए उपादेय कुछ भी नही। लौकिक दृष्टि में हेय और उपादेय दोनो होते हैं। जो वस्तु न ग्राह्य होती है और न अग्राह्य, वहाँ मध्यस्थ बुद्धि बनती है अथवा हर्ष और शोक दोनों से बचे रहना, वह मध्यस्थ बुद्धि है [४३]।

इनके अतिरिक्त व्याप्ति, अभाव, उपचार आदि के भी बीज मिलते हैं।

जैन प्रमाण और परीक्षा-पद्धति का विकास इन्ही के आधार पर हुआ है। दूसरे दर्शनो के उपयोगी अंश अपनाने में जैनाचार्यों को कभी आपत्ति नहीं रही है। उन्होने अन्य-परम्पराओ की नई सूझों का हमेशा आदर किया है और अपनाया है। फिर भी यह निर्विवाद है कि उनकी न्याय-परम्परा सर्वथा स्वतन्त्र और मौलिक है और भारतीय न्याय-शास्त्र को उसकी एक बड़ी देन है।

अनेकान्त व्यवस्था

आगम साहित्य में सिर्फ ज्ञान और ज्ञेय की प्रकीर्ण मीमांसा ही नही मिलती, उनकी व्यवस्था भी मिलती है।

सूत्र कृताङ्ग (२-५) में विचार और आचार, दोनों के बारे में अनेकान्त का तलस्पर्शी विवेचन मिलता है। भगवती और सूत्रकृताङ्ग में अनेक मतवादो का निराकरण कर स्वपक्ष की स्थापना की गई है।

इन बिखरी मुक्ताओं को एक धागे में पिरोने का काम पहले-पहल आचार्य 'उमास्वाति' ने किया। उनका तत्त्वार्थ सूत्र जैन न्याय विकास की पहली रश्मि है। यों कहना चाहिए कि विक्रम पहली-दूसरी शताब्दी के लगभग जैन-परम्परा में 'प्रमाण नयैरधिगमः' सूत्र के रूप में स्वतन्त्र परीक्षा-शैली का शिलान्यास हुआ [४४]।

धार्मिक मतवादो के पारस्परिक संघर्ष ज्यों-ज्यो बढ़ने लगे और अपनी मान्यताओ को युक्तियो द्वारा समर्थित करना अनिवार्य हो गया, तब जैन आचार्यों ने भी अपनी दिशा बदली, अपने सिद्धान्तों को युक्ति की कसौटी पर कस कर जनता के सामने रखा। इस काल में अनेकान्त का विकास हुआ।

अहिंसा की साधना जैनाचार्यों का पहला लक्ष्य था। उससे हटकर मत-प्रचार करने को वे कभी लालायित नहीं हुए। साधु के लिए पहले 'आत्मानुकम्पी' (अहिंसा की साधना में कुशल) होना जरूरी है। जैन-आचार्यों की दृष्टि में विवाद या शुष्क तर्क का स्थान कैसा था, इस पर महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन की "वादद्वात्रिंशिका" पूरा प्रकाश डालती है[४५]।

हरिभद्रसूरि का वादाष्टक भी शुष्क तर्क पर सीधा प्रहार है। जैनाचार्यों ने तार्किक आलोक में उतरने की पहल नही की, इसका अर्थ उनकी तार्किक दुर्बलता नही किन्तु समतावृत्ति ही थी।

वाद-कथा क्षेत्र मे एक ओर गौतम प्रदर्शित छल, जल्प, वितंडा, जाति और निग्रह की व्यवस्था और दूसरी ओर अहिंसा का मार्ग कि—"अन्य तीर्थों के साथ वाद करने के समय आत्म-समाधि वाला मुनि सत्य के साधक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का प्रयोग करे और यो बोले कि ज्यो प्रतिपक्षी अपना विरोधी न बने" [४६]। सत्य का शोधक और साधक "अप्रतिज्ञ होता है वह असत्य-तत्त्व का समर्थन करने की प्रतिज्ञा नही रखता"—यह एक समस्या थी, इसको पार करने के लिए अनेकान्त दृष्टि का सहारा लिया गया [४७]।

अनेकान्त के विस्तारक श्वेताम्बर-परम्परा में "सिद्धसेन" और दिगम्बर-परम्परा मे 'समन्तभद्र' हुए। उनका समय विक्रम की ५वीं ६ठी शती के लगभग माना जाता है। सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिका और सन्मति की रचना करके यह सिद्ध किया कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन नयो का समूह विविध सापेक्ष दृष्टियों का समन्वय है [४८]। एकान्त-दृष्टि मिथ्या होती है। उसके द्वारा 'सत्य' नही पकड़ा जा सकता। जितने पर समय हैं[४९], वे सब नयवाद हैं। एक दृष्टि को ही एकान्त रूप से पकड़े हुए हैं। इसलिए वे सत्य की ओर नहीं ले जा सकते। जिन-प्रवचन में नित्यवाद, अनित्यवाद, काल, स्वभाव, नियति आदि सब दृष्टियो का समन्वय होता हैं, इसलिए यह "सत्य" का सीधा मार्ग है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति आप्त मीमासा मे वीतराग को आप्त सिद्ध कर उनकी अनेकान्त वाणी से 'सत्' का यथार्थ ज्ञान होने का विजय-घोष किया। उन्होंने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य—इन चार भंगों के द्वारा सदेकान्तवादी सांख्य, असदेकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी वौद्ध के दुराग्रहवाद का बड़ी सफलता से निराकरण किया। भेद-एकान्त, अभेद एकान्त आदि अनेक एकान्त पक्षो में दोष दिखाकर अनेकान्त की व्यापक सत्ता का पथ प्रशस्त कर दिया।

स्याद्वाद—सप्तभगी और नय की विशद योजना में इन दोनो आचार्यों की लेखनी का चमत्कार आज भी सर्व सम्मत है।

प्रमाण-व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन के न्यायावतार में प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवो - की चर्चा प्रमाण-शास्त्र की स्वतन्त्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवन श्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलंक को है। उनका समय विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी हैं। उनके 'लघीयस्त्रय', 'न्याय विनिश्चय' और 'प्रमाण-संग्रह' में मिलने वाली प्रमाण-व्यवस्था पूर्ण विकसित है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो धाराओ मे उसे स्थान मिला है। इसके बाद समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे गए। दसवीं शताब्दी की रचना माणिक्यनदी का 'परीक्षा मुख मण्डन', बारहवीं शताब्दी की रचना वादिदेवसूरी का 'प्रमाण नय तत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाण-मीमांसा', पन्द्रहवी शताब्दी की रचना धर्मभूषण की 'न्यायदीपिका', १८वी शताब्दी की रचना यशोविजयजी की 'जैन तर्क भाषा'—यह काफी प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त बहुत सारे लाक्षणिक ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध भी पड़े हैं। इन लाक्षणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा और प्रमाण के लक्षण की स्थापना और उत्थापना में जिनका योग है, वे भी प्रचुर मात्रा में हैं।

दो

प्रमाण का लक्षण

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनो प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय-विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण सिर्फ यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का संशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' प्रमा का करण ही प्रमाण है। तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ है साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सब 'करण' नही कहलाते। फल की सिद्धि मे जिनका व्यापार अव्यवहित (प्रकृष्ट उपकारक) होता है वह 'करण' कहलाता है। कलम बनाने मे हाथ और चाकू दोनो चलते हैं किन्तु करण चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है, हाथ से उसके बाद। इसलिए हाथ साधक और चाकू साधकतम कहलाएगा।

प्रमाण के सामान्य लक्षण में किसी को आपत्ति नही है। विवाद का विषय 'करण' बनता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानते हैं,[1] नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनों को, इस दशा में जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानते हैं।[2] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ बोध की सहायक सामग्री है। उसका निकट सम्बन्धी ज्ञान ही है और वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण का फल होता है अज्ञान निवृत्ति, इष्ट-वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग। यह सब प्रमाण को ज्ञान स्वरूप माने बिना हो नहीं सकता। इसलिए अर्थ के सम्यक् अनुभव में 'करण' बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक परिष्कार

प्रामाणिक क्षेत्र में प्रमाण की अनेक धाराएं वही, तब जैन आचार्यों को भी प्रमाण की समन्तव्य-पोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पड़ी। जैन विचार के अनुसार प्रमाण की आत्मा 'निर्णायक ज्ञान' है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है—

'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥'
—तत्त्वा० श्लो० १-१०-७७।

पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है और सब विशेषण व्यर्थ हैं किन्तु फिर भी परिभाषा के पीछे जो कई विशेषण लगे उसके मुख्य तीन कारण हैं—

(१) दूसरों के प्रमाण-लक्षण से अपने लक्षण का पृथक्करण।
(२) दूसरो के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण।
(३) बाधा का निरसन।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'[3]—स्व और पर को प्रकाशित करने वाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते। उनके मत से 'ज्ञान है'—इसका पता अर्थ प्राकट्यात्मक अर्थापत्ति से लगता है। दूसरे शब्दो मे, उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। अर्थ को हम जानते हैं'— यह अर्थज्ञान (अर्थ प्राकट्य है)। हम अर्थ को जानते हैं इससे पता चलता है कि अर्थ को जानने वाला ज्ञान है। अर्थ की जानकारी के द्वारा ज्ञान की जानकारी होती है'—यह परोक्ष ज्ञानवाद है। ज्ञानान्तर-वेद्य ज्ञानवादी नैयायिक—वैशेषिक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान परप्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। अचेतन ज्ञानवादी सांख्य प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्रकृति की पर्याय—विकार है, इसलिए वह अचेतन है।

उक्त परिभाषा मे आया हुआ 'स्व-आभासि' शब्द इनके निराकरण की ओर सकेत करता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान 'स्व-अवभासि' है [५]। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ प्राकट्य (अर्थ वोध) की अपेक्षा नहीं है।

(१) ज्ञान प्रमेय ही नहीं, ईश्वर के ज्ञान की भांति प्रमाण भी है।

(२) ज्ञान अचेतन नहीं—जड़ प्रकृति का विकार नही, आत्मा का गुण है [६]।

ज्ञानाद्वैतवादी वौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानते है, वाह्य पदार्थ को नही [७]। इसका निराकरण करने के लिए 'पर आभासि' विशेषण जोड़ा गया।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की भाति वाह्य वस्तुओ की भी पारमार्थिक-सत्ता है [८]।

विपर्यय आदि प्रमाण नही हैं, यह वतलाने के लिए 'वाध विवर्जित' विशेषण है।

समूचा लक्षण तत्काल प्रचलित लक्षणो से जैन लक्षण का पृथक्करण करने के लिए है।

आचार्य अकलक ने प्रमाण के लक्षण मे 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नई परम्परा शुरू कर दी [९]। इस पर वौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रभाव पड़ा ऐसा प्रतीत होता है। न्याय-वैशेपिक और मीमासक 'धारावाहिक ज्ञान' (अधिगत ज्ञान—गृहीतग्राही ज्ञान) को प्रमाण मानने के पक्ष में थे और वौद्ध विपक्ष मे। आचार्य अकलक ने वौद्ध दर्शन का साथ दिया। आचार्य अकलक का प्रतिविम्व आचार्य माणिक्य नन्दी पर पड़ा। उन्होने यह माना कि 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्'—स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है [१०]। इसमे आचार्य अकलक के मत का 'अपूर्व' शब्द के द्वारा समर्थन किया।

वादिदेव सूरी ने 'स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम्' इस सूत्र मे माणिक्य नन्दी के 'अपूर्व' शब्द को ध्यान नही दिया [११]।

इस काल मे दो धाराए चल पड़ी। दिगम्बर आचार्यों ने गृहीत-ग्राही

धारावाही ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। श्वेताम्बर आचार्य इसको प्रमाण मानते थे। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने इस प्रश्न को खड़ा करना उचित ही नहीं समझा उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ बताया कि—

'गृहीतमगृहीतं वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम् ॥

—श्लोक वार्तिक १-१०-७८।

स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण-सूत्र का परिष्कार ही नहीं किया किन्तु एक ऐसी बात सुझाई, जो उनकी सूक्ष्म तर्क-दृष्टि की परिचायक है—'ज्ञान स्व-प्रकाशी होता अवश्य है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बनता [१२]। कारण कि प्रमाण की भांति अप्रमाण—संशय विपर्यय ज्ञान भी स्वसंविदित होता है। पूर्वाचार्यों ने "स्वनिर्णय को लक्षण में रखा है, वह परीक्षा के लिए है, इसलिए वहाँ कोई दोष नहीं आता"—यह लिख कर उन्होंने अपने पूर्वजो के प्रति अत्यन्त आदर सूचित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा-'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्'—अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। यह जैन-प्रमाण-लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप है।

आचार्य तुलसी ने 'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'—यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान प्रमाण है [१३] इसमें अर्थ पद को भी नहीं रखा। ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—ये दो रूप बाह्य पदार्थों के प्रति उसका व्यापार होता है, तब बनते हैं। इसलिए अर्थ के निर्णय का बोध 'यथार्थ' पद अपने आप करा देता है [१४]। यदि बाह्य अर्थ के प्रति ज्ञान का व्यापार नहीं होता तो लक्षण में यथार्थ-पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैध नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। 'याथार्थ्य का

अर्थ है—'ज्ञान की तथ्य के साथ संगति' [१५]। ज्ञान अपने प्रति सत्य ही होता है। प्रमेय के साथ उसकी संगति निश्चित नहीं होती, इसलिए उसके दो रूप बनते हैं—तथ्य के साथ संगति हो, वह सत्य ज्ञान और तथ्य के साथ संगति न हो, वह असत्य ज्ञान।

अबाधितत्त्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसंवादित्व या संवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्तिसामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता—ये सत्य की कसौटियां हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्वबाधक प्रमाण के अभाव या कथनो के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं [१६]। सम्मति-टीकाकार आचार्य अभयदेव इसका निराकरण करते हैं [१७]। आचार्य अकलंक बौद्ध और मीमासक अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन (अज्ञात अर्थ के ज्ञापन) को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं [१८]। वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र इसका निराकरण करते हैं [१९]।

संवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किन्तु ये प्रामाण्य के मुख्य नियामक नही वन सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भाति व्यापक नही है। प्रत्येक निर्णय मे तथ्य के साथ ज्ञान की सगति अपेक्षित होती है, वैसे संवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय मे अपेक्षित नही होता। वह क्वचित् ही सत्य को प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तव तक सत्य नहीं होता, जव तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं वन जाता। यह भी सार्वदिक सत्य नहीं है। इसके विना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् यह 'सत्य की कसौटी' वनता है, इसलिए यह अमान्य भी नही है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलने वाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त वनते हैं [२०]। निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनों उत्पन्न होते तो इन्हें स्वतः मान

जाता किन्तु ऐसा होता नहीं। ये दोनो सविशेषण सामग्री से पैदा होते हैं; जैसे गुणवत्—सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत्—सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनो में होता है। किन्तु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नही होता और प्रमाण में वह यथार्थ होता है। अयथार्थ-परिच्छेद की भाति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोष मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नही आती। वह तब आती है, जब गुण उसके कारण बने। जो कारण बनेगा वह 'पर' कहलाएगा। ये दोनो विशेष स्थिति सापेक्ष हैं, इसलिए इनकी उत्पत्ति 'पर' से होती है।

प्रामाण्य निश्चय के दो रूप स्वतः और परतः[२१]

जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चय होता है, वह स्वतः निश्चय है।

जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चय नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री से—संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, वह परतः निश्चय है (जैन प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः भी मानते हैं और परतः भी)।

स्वतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणो की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भलीभाति परिचित है। वह मित्र गृह को देखते ही निस्सन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। "यह मेरे मित्र का घर है" ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सचाई का निश्चय नही होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नही होता।

परतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की अपरिचित दशा मे प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नही लगता तब विशेष कारणो की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है,

फिर भी उसे यह सन्देह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का ? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहाँ ज्ञान की सचाई का दूसरे की सहायता से पता लगा, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है। विशेष कारण-सामग्री के दो प्रकार हैं—(१) संवादक प्रमाण अथवा (२) बाधक प्रमाण का अभाव।

जिस प्रमाण से पहले प्रमाण की सचाई का निश्चय होता है, उसका प्रामाण्य-निश्चय परतः नही होता। पहले प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले प्रमाण की प्रामाणिकता परतः मानने पर प्रमाण की शृङ्खला का अन्त नहीं होता और न अन्तिम निश्चय ही हाथ लगता है। संवादक प्रमाण किसी दूसरे प्रमाण का ऋणी बन कर सही जानकारी नही देता। कारण कि उसे जानकारी देने के समय उसका ज्ञान करना नहीं है। अतः उसके लिए स्वतः या परतः का प्रश्न ही नही उठता।

"प्रामाण्य का निश्चय स्वतः और परतः होता है[२२]," यह विभाग विषय (ग्राह्यवस्तु) की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य निश्चय अपने आप होता है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप (विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय)

एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियो के ज्ञान के चार रूप हैं :—

पहला—यह रस्सी है—यथार्थ ज्ञान।

दूसरा—यह साँप है—विपर्यय।

तीसरा—यह रस्सी है या साँप है ?—सशय।

चौथा—रस्सी को देख कर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नही करता—अनध्यवसाय।

पहले व्यक्ति का ज्ञान सही है। यही प्रमाण होता है, जो पहले बताया जा चुका है। शेष तीनों व्यक्तियो के ज्ञान में वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं होता, इसलिए वे अयथार्थ हैं।

विपर्यय[२३]

विपर्यय निश्चयात्मक होता है किन्तु निश्चय पदार्थ के असली स्वरूप के विपरीत होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त-दृष्टिया होती हैं, वे सब विपर्यय

की कोटि में आती है। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है और अवस्थाभेद की दृष्टि से अनित्य। इसलिए उसका समष्टि रूप बनता है—पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक्-ज्ञान है इसके विपरीत पदार्थ नित्य ही है अथवा पदार्थ अनित्य ही है—यह विपर्यय ज्ञान है।

अनेकान्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पदार्थ कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है।' यह निरपेक्ष नही किन्तु कथचित् यानी गुणात्मक सत्ता की अपेक्षा नित्य ही है और परिणमन की अपेक्षा अनित्य ही है।

पदार्थ नष्ट नही होता, यह प्रमाण-सिद्ध है। उसका रूपान्तर होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इस दशा में पदार्थ को एकान्ततः नित्य या अनित्य मानना सम्यग्-निर्णय नही हो सकता।

विपरीत ज्ञान के सम्वन्ध में विभिन्न दर्शनो में विभिन्न धारणाएं हैं :—

सांख्य योग और मीमांसक (प्रभाकर) इसे 'विवेकाख्याति'[२४] या अख्याति वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति[२५], बौद्ध (योगाचार) 'आत्म-ख्याति[२६]' कुमारिल (भट्ट), नैयायिक-वैशेषिक 'विपरीतख्याति[२७], या (अन्यथा ख्याति) और चार्वाक अख्याति (निरावलम्बन) कहते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी मे प्रतीत होने वाला सॉप स्वरूपतः सत् और रस्सी के रूप मे असत् है। ज्ञान के साधनों की विकल दशा में सत् का असत् के रूप में ग्रहण होता है, यह 'सदसत्ख्याति' है।

संशय[२८]

ग्राह्य वस्तु की दूरी, अंधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि-आदि जो विपर्यय के कारण वनते हैं, वे ही संशय के कारण हैं। हेतु दोनो के समान हैं फिर भी उनके स्वरूप में वड़ा अन्तर है। विपर्यय में जहाँ सत् मे असत् का निर्णय होता है, वहाँ संशय में सत् या असत् किसी का भी निर्णय नही होता। संशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। वह 'यह या वह' के घेरे को तोड़ नहीं सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सींग वाले प्राणी को दूर से देखते ही मन विकल्प से भर जाता है—क्या यह गाय है अथवा गवय—रोझ?

'निर्णायक विकल्प संशय नही होता', यह हमें याद रखना होगा। पदार्थ के

वारे मे अभी-अभी हम दो विकल्प कर आये हैं—'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी'। यह संशय नही है। संशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है, जहाँ पदार्थ के एक धर्म के वारे मे दो विकल्प होते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले अनेक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं कि उनकी कल्पना आधार शून्य नही होती। स्याद्वाद के प्रामाणिक विकल्पो—भंगों को संशयवाद कहने वालो को यह स्मरण रखना चाहिए।

अनध्यवसाय[२९]

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। किसी पक्षी को देखा और एक आलोचन शुरू हो गया—इस पक्षी का क्या नाम है? चलते-चलते किसी पदार्थ का स्पर्श हुआ। यह जान लिया कि स्पर्श हुआ है किन्तु किस वस्तु का हुआ है, यह नही जाना। इस ज्ञान की आलोचना में ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नहीं निकलता। इसमे वस्तु-स्वरूप का अन्यथा ग्रहण नहीं होता, इसलिए यह विपर्यय से भिन्न है और यह विशेष का स्पर्श नही करता, इसलिए संशय से भी भिन्न है। संशय में व्यक्ति का उल्लेख होता है। यह जाति सामान्य विषयक है। इसमें पक्षी और स्पर्श की के व्यक्तिका नामोल्लेख नही होता।

अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है उसे विपरीत नहीं किन्तु उसी रूप में जानने मे अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि मे रखा है। अनध्यवसाय को अयथार्थ उसी दशा में कहा जा सकता है, जवकि यह 'आलोचन मात्र' तक ही रह जाता है। अगर यह आगे वढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत हो जाता है[३०]।

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण वन जाता है और कभी अप्रमाण, यह क्यों? जैन-दृष्टि में इसका समाधान यह है कि यह सामग्री के दोष से होता है।

प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नही वनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। यह स्थिति उसके सावरण ज्ञान की दशा में वनती है[३१]।

ज्ञान की सामग्री द्विविध होती है—(१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। आवरण के तारतम्य के अनुपात में जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-परोक्ष। आत्म प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नही होती। आत्म-परोक्ष ज्ञान की दशा में बाह्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्य सामग्री-सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रिया, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि-आदि बाह्य सामग्री के अग हैं।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनो हैं। आवरण विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता में बाह्य सामग्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति मे परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान-मोह है और ज्ञान-मोह का निमित्त दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्षज्ञान-दशा में चेतना का विकास होने पर भी अदृष्ट सामग्री के अभाव मे यथार्थ बोध नही होता। अर्थ-बोध ज्ञान की योग्यता से नहीं होता, किन्तु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा में लब्धि प्रमाण नहीं होता। प्रमाण होता है उपयोग। लब्धि (ज्ञानावरण विलय जन्य आत्म-योग्यता) शुद्ध ही होती है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध (यथार्थ या अयथार्थ) दोनो प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञान-सामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है कि वह ज्ञानकाल मे प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नहीं जान पाता।

संशय और विपर्यय के काल मे प्रमाता जो जानता है, वह ज्ञानावरण का परिणाम नही किन्तु वह यथार्थ नही जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का परिणाम है। समारोपज्ञान में अज्ञान (यथार्थ-ज्ञान के अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्य वृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है। वस्तुवृत्त्या जितना ज्ञान का व्यापार है, वह ज्ञानावरण के विलय

का परिणाम है और उसमें जितना यथार्थ ज्ञान का अभाव है, वह ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है [३२]।

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

अयथार्थ ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—(१) आध्यात्मिक और (२) व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्र-मोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह-दशा से होता है [३३]। इनसे श्रद्धा विकृत होती है [३४]।

व्यावहारिक संशय और विपर्यय का नाम है 'समारोप' [३५]। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है [३६]। इससे ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

पहला पक्ष दृष्टि-मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान-मोह। इनका भेद समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"तत्त्व श्रद्धा मे विपर्यय होने पर मिथ्यात्व होता है [३७]। अन्यत्र विपर्यय होता है, तब ज्ञान असत्य होता है किन्तु वह मिथ्यात्व नहीं बनता।"

दृष्टि मोह मिथ्या दृष्टि के ही होता है। ज्ञान-मोह सम्यग् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि दोनो के होता है। दृष्टि-मोह मिथ्यात्व है, किन्तु अज्ञान नहीं। मिथ्यात्व मोह जनित होता है [३८] और अज्ञान (मिथ्या दृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण विलय (क्षयोपशम) जनित [३९]। श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व से होता है, अज्ञान से नहीं। जैसा कि जयाचार्य ने लिखा है—

"मोहनी उन्मादना वे भेद एक मिथ्यात्वी,
तसु उदय थी श्रद्धेज ऊंधी, दस वोला मैं एक ही [४०]।"—भग० जोड़ १४।२।

—मिथ्यात्व मोहनीय उन्माद का एक प्रकार है। उसके उदय से श्रद्धा विपरीत वनती है।

मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्तर वताते हुए उन्होंने लिखा है—"अज्ञानी कई विषयो मे विपरीत श्रद्धा रखते हैं, वह मिथ्यात्व-आस्रव है। वह मोह-कर्म के उदय से पैदा होता है, इसलिए वह अज्ञान नहीं। अज्ञानी जितना सम्यग् जानता है, वह ज्ञानावरण के विलय से उत्पन्न होता है। वह अधिकारी की अपेक्षा से अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञान और विपरीत श्रद्धा दोनो भिन्न है [४१]।"

जैसे मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप-भेद नही किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यग् दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान[४२]।

अज्ञान में नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नही, किन्तु ज्ञान का पात्र जो मिथ्यात्वी है, उसके संसर्ग से वह कुत्सित कहलाता है[४३]।

सम्यग् दृष्टि का समारोप ज्ञान कहलाता है और मिथ्या दृष्टि का समारोप या असमारोप अज्ञान। इसका यह अर्थ नही होता कि सम्यग् दृष्टि का समारोप भी प्रमाण होता है और मिथ्या दृष्टि का असमारोप भी अप्रमाण[४४]। समारोप दोनो का अप्रमाण होगा। असमारोप दोनो का प्रमाण। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के निमित्त क्रमशः दृष्टि मोह का उदय और विलय है। समारोप का निमित्त है ज्ञानावरण या ज्ञान-मोह[४५]। समारोप का निमित्त दृष्टि-मोह माना जाता है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। वे लिखते हैं—"जहाँ विषय, साधन आदि का दोष हो, वहाँ भी वह दोष आत्मा की मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है[४६]। इसलिए जैन दृष्टि यही मानती है कि अन्य दोष आत्म-दोष के सहायक होकर ही मिथ्या प्रत्यय के जनक हैं पर मुख्यतया जनक आत्म-दोष मोह ही है[४७]।"

समारोप का निमित्त ज्ञान-मोह हो सकता है, किन्तु दृष्टि-मोह नहीं। उसका सम्बन्ध सिर्फ तात्त्विक विप्रतिपत्ति से है।

तीन अज्ञान—मति, श्रुत और विभंग, तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधि ये विपर्यय नही हैं। इन दोनो त्रिको की क्षायोपशमिकता (ज्ञानावरण-विलय-जन्य योग्यता) में द्विरूपता नही है[४८]। अन्तर केवल इतना आता है कि मिथ्या दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान संज्ञा दी जाती है। सम्यग् दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित नही होता, इसलिए उसकी संज्ञा ज्ञान रहती है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञानमात्र विपरीत होता है अथवा उसका अज्ञान और मिथ्यात्व एक है, ऐसी बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र (१—३२,३३) और उसके भाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य में

अज्ञान का हेतु सत्-असत् का अविशेष बतलाया है [४९]। इससे भी यह फलित नही होता कि मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान मात्र विपरीत है या उसका ज्ञान विपरीत ही होता है, इसलिए उसकी संज्ञा अज्ञान है। सत्-असत् के अविशेष का सम्बन्ध उसकी यदृच्छोपलब्ध तात्त्विक प्रतिपत्ति से है। मिथ्या-दृष्टि की तत्त्व-श्रद्धा या तत्त्व उपलब्धि यादृच्छिक या अनालोचित होती है, वहाँ उसके मिथ्यात्व या उन्माद होता है किन्तु उसके इन्द्रिय और मानस का विषय-बोध मिथ्यात्व या उन्माद नही होता। वह मिथ्यात्व से अप्रभावित होता है—केवल ज्ञानावरण के विलय से होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्या दृष्टि में सत्-असत् का विवेक होता ही नही, यह एकान्त भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। दृष्टि मोह के उदय से उसकी तात्त्विक प्रतिपत्ति मे उन्माद आता है, उससे उसकी दृष्टि या श्रद्धा मिथ्या बनती है, किन्तु उसमें दृष्टि मोह का क्षयोपशम भी होता है। ऐसा कोई भी प्राणी नही होता, जिसमें दृष्टि-मोह का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) न मिले[५०]।

जैन आगमो में मिथ्या-दृष्टि या मिथ्या दर्शन शब्द व्यक्ति और गुण दोनो के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, वह व्यक्ति मिथ्या दृष्टि होता है। गुणवाची मिथ्या दृष्टि शब्द का प्रयोग दृष्टि मोह के उदयजनित मिथ्यात्व के अर्थ में भी होता है और मिथ्यात्व-सहचरित दृष्टि-मोह के विलय के अर्थ में भी[५१]। तात्पर्य कि मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति मे यावन्मात्र उपलब्ध सम्यग्-दृष्टि के अर्थ में भी[५२]।

मिथ्या दृष्टि में दृष्टि-मोह जनित मिथ्यात्व होता है, वैसे ही दृष्टि-मोह विलय जनित सम्यग् दर्शन भी होता है। इसीलिए उसमें 'मिथ्या-दृष्टि-गुण-स्थान नामक पहला गुण-स्थान होता है। गुण-स्थान आध्यात्मिक शुद्धि की भूमिकाएं हैं[५३]। कर्म-ग्रन्थ की वृत्ति में दृष्टि-मोह के प्रबल उदय काल में भी अविपरीत दृष्टि स्वीकार की है और आंशिक सम्यग्-दर्शन भी माना है[५४]। जयाचार्य का भी यही मत है—"मिथ्यात्वी जो शुद्ध जानता है, वह ज्ञानावरण का विलय-भाव है। उसका सब ज्ञान विकृत या विपरीत नही होता, किन्तु दृष्टि-मोह-संवलित ज्ञान ही वैसा होता है[५५]।"

मिथ्या-दृष्टि में मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन दोनों होते हैं, फिर भी

वह मिथ्या दृष्टि सम्यग्मिथ्या-दृष्टि नही बनता। वह भूमिका इससे ऊँची है। मिश्र-दृष्टि व्यक्ति को केवल एक तत्त्व या तत्त्वांश मे सन्देह होता है[७६]। मिथ्या दृष्टि का सभी तत्त्वों में विपर्यय हो सकता है।

मिश्र दृष्टि तत्त्व के प्रति संशयितदशा है और मिथ्या दृष्टि विपरीत संज्ञान। संशयितदशा में अतत्त्व का अभिनिवेश नही होता और विपरीत संज्ञान में वह होता है, इसलिए इसका—पहली भूमिका का अधिकारी अंशतः सम्यग् दर्शनी होते हुए भी तीसरी भूमिका के अधिकारी की भांति सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि नही कहलाता। मिथ्या दृष्टि के साथ सम्यग्-दर्शन का उल्लेख नहीं होता, यह उसके दृष्टि-विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सम्यग्-दर्शन का अंश नहीं होता। सम्यग्-दर्शन का अंश होने पर भी वह सम्यग् दृष्टि इसलिए नही कहलाता कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विलय नही होता।

वस्तुवृत्त्या तत्त्वो की सप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप नही है। सम्यक्त्व दृष्टि मोह-रहित आत्म-परिणाम है और मिथ्यात्व दृष्टि-मोह-सवलित आत्म परिणाम[७७]। तत्त्वों का सम्यग् और असम्यग् श्रद्धान उनके फल हैं[७८]।

प्रमाता दृष्टि-मोह से वद्ध नहीं होता, तव उसका तत्त्व श्रद्धान यथार्थ होता है और उससे वद्धदशा में वह यथार्थ नही होता। आत्मा के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम तात्त्विक सम्प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के द्वारा स्थूलवृत्त्या अनुमेय हैं।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार अज्ञानत्रिक में दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि तीन बोध (मति, श्रुत और विभग) मिथ्यात्व स्वरूप ही होते हैं[७९]। ज्ञानावरण-विलयजन्य ज्ञान जब मिथ्यात्व-मोह के उदय से अभिभूत होता है तात्पर्य कि जिस श्रद्धान में ज्ञानावरण का क्षयोपशम और मिथ्यात्व-मोह का उदय दोनों संवलित होते हैं, तब मिथ्या दृष्टि के वोध में मिथ्यात्व होता है। इस मिथ्यात्व के कारण मिथ्या दृष्टि का बोध अज्ञान कहलाता है, यह बात नहीं। दृष्टि-मोह के उदय से प्रभावित बोध

मिथ्या श्रद्धान या मिथ्यात्व कहलाता है और मिथ्या दृष्टि के सम्यक् श्रद्धान का अंश तथा व्यावहारिक—सम्यग्ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

भगवती में 'मिथ्यादृष्टि के दर्शन-विपर्यय होता है' यह बतलाया है किन्तु सब मिथ्यादृष्टि व्यक्तियो के वह होता है—यह नियम नही [१०]। वैसे ही अज्ञानत्रिक मे दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु अज्ञानमात्र मिथ्यात्व होता है, यह नियम नहीं।

उक्त विवेचन के फलित ये हैं—

(१) तात्त्विक-विपर्यय दृष्टि-मोह और व्यावहारिक-विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।

(२) अज्ञानमात्र ज्ञान का विपर्यय नही, तात्त्विक विप्रतिपत्ति अथवा दृष्टि-मोहोदय-संवलित अज्ञान ही ज्ञान का विपर्यय है।

(३) मिथ्या दृष्टि का अज्ञान मात्र दृष्टि-मोह-संवलित नही होता।

प्रमाण-संख्या

प्रमाण की संख्या सब दर्शनो में एक-सी नही है। नास्तिक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं; वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान; साख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम; नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान; मीमासा (प्रभाकर) पांच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति; मीमांसा (भट्ट, वेदान्त) छह—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। पौराणिक इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य, प्रातिभ प्रमाण और मानते हैं। जैन दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण भेद का निमित्त

आत्मा का स्वरूप केवल ज्ञान है, केवल ज्ञान—पूर्णज्ञान अथवा एक ज्ञान। बादलों में ढके हुए सूर्य के प्रकाश में जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही कर्म-मलावरण से ढकी हुई आत्मा में ज्ञान का तारतम्य होता है। कर्ममल के आवरण और अनावरण के आधार पर ज्ञान के अनेक रूप बनते हैं। प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को प्रमाण मानें? इसके उत्तर में जैन-दृष्टि यह है कि जितने प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान) हैं, वे सब प्रमाण बन सकते हैं। शर्त केवल यही है कि वे यथार्थत्व से अवच्छिन्न होने

चाहिए—ज्ञानसामान्य में खींची हुई यथार्थता की भेद-रेखा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। फलतः जितने यथार्थ ज्ञान उतने ही प्रमाण। यह एक लम्बा-चौड़ा निर्णय हुआ। बात सही है, फिर भी सबके लिए कठिन है, इसलिए इसे समेट कर दो भागों में बांट दिया। बांटने में एक कठिनाई थी। ज्ञान का स्वरूप एक है फिर उसे कैसे बांटा जाय? इसका समाधान यह मिला कि विकास-मात्रा (अनावृत्त दशा) के आधार पर उसे बांटा जाय। ज्ञान के पांच स्थूल भेद हुए :—

(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान, मानस ज्ञान	ऐन्द्रियिक
(२) श्रुतज्ञान—शब्दज्ञान	
(३) अवधिज्ञान—मूर्त्तपदार्थ का ज्ञान	अतीन्द्रिय
(४) मनः पर्यवज्ञान—मानसिक भावना का ज्ञान	
(५) केवलज्ञान—समस्त द्रव्य पर्याय का ज्ञान, पूर्णज्ञान	

अब प्रश्न रहा, प्रमाण का विभाग कैसे किया जाय? ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्म-निष्ठ है। प्रमाण का सम्बन्ध अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों से है। बहिर्जगत् की यथार्थ घटनाओं को अन्तर्जगत् तक पहुँचाए, यही प्रमाण का जीवन है। बहिर्जगत् के प्रति ज्ञान का व्यापार एक-सा नहीं होता। ज्ञान का विकास प्रबल होता है, तब वह बाह्य साधन की सहायता लिए बिना ही विषय को जान लेता है। विकास कम होता है, तब बाह्य साधन का सहारा लेना पड़ता है। बस यही प्रमाण-भेद का आधार बनता है।

(१) पदार्थ को जो सहाय-निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण है और (२) जो सहाय-सापेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह परोक्ष-प्रमाण है। स्वनिर्णय में प्रत्यक्ष ही होता है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो भेद पदार्थ-निर्णय के दो रूप साक्षात् और अ-साक्षात् की अपेक्षा से होते हैं।

'प्रत्यक्ष और परोक्ष' प्रमाण की कल्पना जैन न्याय की विशेष सूझ है। इन दो दिशाओं में सब प्रमाण समा जाते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किये जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए- जितने अपना स्वरूप असंकीर्ण रख सकें। फिर भी जिनमें यथार्थता है, उन्हें प्रमाणभेद

मानने में समन्वयवादी जैनो को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष का उदर इतना विशाल है कि उसमें प्रमाणभेद समाने में किंचित् भी कठिनाई नहीं होती।

प्रमाण-विभाग

प्रमाण के मुख्य भेद दो है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—व्यवहार-प्रत्यक्ष और परमार्थ-प्रत्यक्ष। व्यवहार-प्रत्यक्ष के चार विभाग है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ-प्रत्यक्ष के तीन विभाग हैं—केवल, अवधि और मनः पर्यव। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।
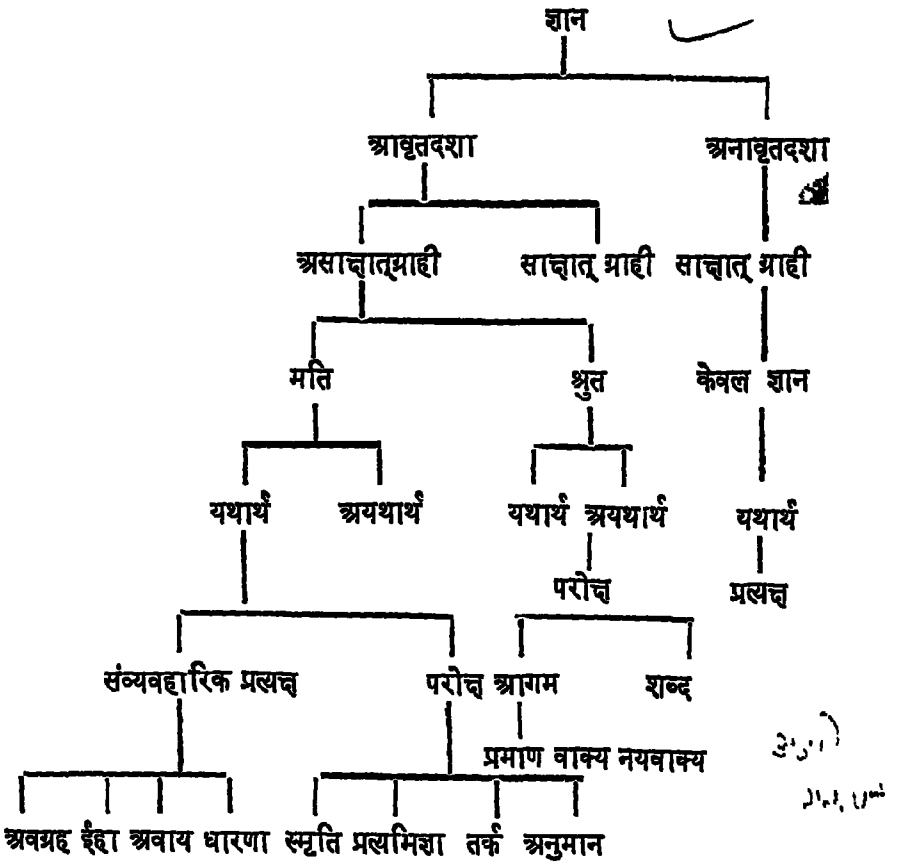
तीन

३१—५४

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष

'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'—प्रत्यक्ष-सिद्ध के लिए युक्ति की कोई आवश्यकता नही होती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान मे कोई अन्तर नही है। यथार्थता के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नही है। अपने-अपने विषय में दोनो तुल्यबल हैं। सामर्थ्य की दृष्टि से दोनो मे बड़ा अन्तर है। (प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल मे स्वतन्त्र होता है और परोक्ष साधन-परतन्त्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) सम्बन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित (दूसरे के माध्यम से)

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाएं हैं—(१) आत्म-प्रत्यक्ष (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली परमार्थाश्रयी है, इसलिए यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी व्यवहाराश्रयी है, इसलिए यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—(१) केवल ज्ञान—पूर्ण या सकल-प्रत्यक्ष, (२) नो-केवलज्ञान—अपूर्ण या विकल-प्रत्यक्ष।

नो-केवल ज्ञान के दो भेद हैं—अवधि और मनः पर्यव।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—

(१) अवग्रह

(२) ईहा

(३) अवाय

(४) धारणा

प्रत्यक्ष का लक्षण

आत्म-प्रत्यक्ष—आत्मा—पदार्थ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष—आत्मा—इन्द्रिय—पदार्थ।

(१) आत्म-प्रत्यक्ष—

इन्द्रिय मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिए विना आत्मा को पदार्थ

का साक्षात् ज्ञान होता है। उसे आत्म-प्रत्यक्ष, पारमार्थिक-प्रत्यक्ष या नो—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

(२) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिया धूम आदि लिङ्ग का सहारा लिए बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं, इसलिए यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्षतया अर्थ-परिच्छेदक ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहा है[१]। इसमें 'अपरोक्ष' शब्द विशेष महत्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा उससे असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान आत्मा (प्रमाता) के साक्षात् नही होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अर्थ और उसके बीच अव्यवधान होना जरूरी है।

आचार्य सिद्धसेन की इस निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती[२] और स्थानाङ्ग की प्रमाण-व्यवस्था है[३]। आचार्य अकलंक की व्याख्या के अनुसार—'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है[४]। अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' में स्थान देने का एक कारण है। आचार्य अकलक की प्रमाण-व्यवस्था में व्यवहार-दृष्टि का भी आश्रयण है, जिसका आधार नन्दी की प्रमाण व्यवस्था है[५]। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—मुख्य और सव्यवहार। मुख्य-प्रत्यक्ष, वही है, जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करे। संव्यवहार प्रत्यक्ष, में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें 'अपरोक्षतया-अर्थ-ग्रहण' लक्षण नही बनता। इसलिए दोनो की संगति करने के लिए 'विशद' शब्द की योजना करनी पड़ी।

'विशद' का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा (अनुमान आदि की अपेक्षा न होना) और 'यह है' ऐसा प्रतिभास होना[६]। संव्यवहार-प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है—'यह है' ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिए इसकी 'विशुद्धता' निर्बाध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' का वेदान्त के और विशद का बौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, फिर भी उसके विषय-ग्राहक स्वरूप में मौलिक भेद हैं। वेदान्त के मतानुसार पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है[७]। अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने शुद्ध-साक्षी चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है[८]।

जैन-दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के बीच दूसरी कोई शक्ति नही होती। शुद्ध चैतन्य के द्वारा अन्तःकरण को प्रकाशित मानें और अन्तःकरण की पदार्थाकार परिणति माने, यह प्रक्रियागौरव है। आखिर शुद्ध चैतन्य के द्वारा एक को प्रकाशित मानना ही है, तब पदार्थ को ही क्यों न मानें।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्विकल्प-बोध (दर्शन) निर्णायक नही होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण ही नही बनता।

समन्वय का फलित रूप

अपरोक्ष और विशद का समन्वय करने पर सहाय-निरपेक्ष अर्थ फलित होता है। 'अपरोक्ष' यह परिभाषा परोक्ष-लक्षणाश्रित है। 'विशद' यह आकांक्षा-सापेक्ष है। वैशद्य का क्या अर्थ है, इसकी अपेक्षा रहती है। 'सहाय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष' इसमें यह आकांक्षा अपने आप पूरी हो जाती है। जो सहाय[९]-निरपेक्ष-आत्म-व्यापारमात्रापेक्ष होगा, वह विशद भी होगा और अपरोक्ष भी[१०]। व्यवहार प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की और वास्तविक-प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर और पौद्गलिक इन्द्रिय—इन दोनों की सहायता अपेक्षित नही होती।

केवलज्ञान

अनावृत्त अवस्था में आत्मा के एक या अखण्ड ज्ञान होता है, वह केवल-ज्ञान है। जैन-दृष्टि में आत्मा ज्ञान का अधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवल-ज्ञान है। वास्तव में 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नही है। बाकी के सब ज्ञान

इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से बनते हैं। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमांसा करते हुए समझाया है—"माना कि एक चांदी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारों पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज मान ली। दूसरा दीखा तब दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीजें मान ली। बीच में से धूल नहीं हटी, इसलिए उन चारों की एकता का हमे पता नही लगा। ज्यों ही बीच की धूल हटी, चौकी सामने आई। हमने देखा कि वे चारों चीजें उसी एक में समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढका रहता है तब तक उसके अल्प-विकसित छोरों को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घाति कर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है[११], तब ज्ञान के छोटे-छोटे सब भेद उसमें विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा में सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनों को साक्षात् करने वाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान।' त्रिकालवर्ती प्रमेय मात्र इसके विषय बनते हैं, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा में अवधि और मनः पर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

(अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा)

इन्द्रिय और मन का ज्ञान अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान में उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमे उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु-मात्र—सामान्य रूप या एकता का बोध होता है। उसके बाद क्रमशः वस्तु की विशेष अवस्थाएं या अनेकता जानी जाती हैं। एकता का बोध सुलभ और अल्प समय-लभ्य होता है उस दशा में अनेकता का बोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गांव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घड़ा है, कपड़ा है, यह बोध हजार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हजार पुस्तकें हैं, अमुक-परिमाण मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है—इससे पहले वृक्षत्व का बोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और बाद में आम।

विशेष का बोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और

विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मों का, अवयवी अनेक अवयवो का, समष्टि अनेक व्यक्तियो का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकड़ता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पड़ता है। फिर क्रमशः पदार्थ के विविध पहलुओ का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाएं हैं :—

(१) दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।

(२) आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।

(३) अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठ-भूमि में दो बातें अपेक्षित हैं :—

(१) इन्द्रियों और पदार्थ का उचित स्थान मे योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)।

(२) दर्शन—निर्विकल्प-बोध, सामान्य मात्र (सत्तामात्र) का ग्रहण।

पूरा क्रम यों बनता है :—

(१) इन्द्रिय और अर्थ का उचित योग—शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष (उसके बाद)

(२) निर्विकल्प बोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'..। (उसके बाद)

(३) ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'। (उसके बाद)

(४) आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'। (उसके बाद)

(५) अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहाँ निश्चय की पूर्णता होती है। (उसके बाद)

(६) निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहाँ व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध होते ही

'सत्ता है' का वोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नही पाता। इसमें विशेष धर्म का वोध नही होता, इसलिए प्रमाण नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह उत्तर भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके वाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यञ्जन-अवग्रह होता है। 'व्यञ्जन' के तीन अर्थ हैं—(१) शब्द आदि पुद्गल द्रव्य (२) उपकरण—इन्द्रिय—विषय—ग्राहक इन्द्रिय (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का संयोग। व्यञ्जन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है [१२]। प्रमाता अव भी नहीं जानता। इसके वाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं (१) द्रव्य (सामान्य)(२) पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नहीं जान सकते। इन्द्रियां अपने-अपने विषयभूत वस्तु पर्यायों को जानती हैं और मन भी एक साथ नियत अंश का ही विचार करता है।

अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह से कुछ व्यक्त होता है, जैसे—'यह कुछ है'—यह सामान्य अर्थ का ज्ञान है। सामान्य का निर्देश हो सकता है (कहा जा सकता है) जैसे—वन, सेना, नगर आदि-आदि। अर्थावग्रह का विषय अनिर्देश्य-सामान्य होता है—किसी भी शब्द के द्वारा कहा नही जा सके, वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह के द्वारा अर्थ के अनिर्देश्य सामान्यरूप का ज्ञान होता है। दर्शन के द्वारा 'सत्ता है' का वोध होता है। अर्थावग्रह के द्वारा 'वस्तु है' का ज्ञान होता है। सत्ता से यह ज्ञान सिर्फ इतना सा आगे वढ़ता है। इसमें अर्थ के स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि की कल्पना के अन्तर्गत शाब्दिक प्रतीति नही होती [१३]। अर्थावग्रह से ज्ञात अर्थ का स्वरूप क्या है, नाम क्या है, वह किस जाति का है, उसकी क्रिया क्या है, गुण क्या है, कौन सा द्रव्य है, यह नहीं जाने जाते। इन्हे जाने विना (स्वरूप आदि की कल्पना के विना) अर्थ-सामान्य का निर्देश भी नहीं किया जा सकता। उक्त स्वरूप के आधार पर इसकी यह परिभाषा वनती है—"अनिर्देश्य-सामान्य अर्थ को जानने वाला ज्ञान अर्थावग्रह होता है।"

प्रश्न हो सकता है कि अनध्यवसाय और अर्थावग्रह दोनो सामान्यग्राही हैं तव एक को अप्रमाण और दूसरे को प्रमाण क्यों माना जाए? उत्तर साफ है।

अनध्यवसाय अर्थावग्रह का ही आभास है। अर्थावग्रह के दो रूप बनते हैं—निर्णयोन्मुख और अनिर्णयोन्मुख। अर्थावग्रह निर्णयोन्मुख होता है, तब प्रमाण होता है और जब वह निर्णयोन्मुख नहीं होता अनिर्णय में ही रुक जाता है, तब वह अनध्यवसाय कहलाता है। इसीलिए अनध्यवसाय का अवग्रह में समावेश होता है[१४]।

२ ईहा

अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। 'यह क्या है?—शब्द है अथवा स्पर्श?' इसके अनन्तर ही जो सत्-अर्थ का साधक वितर्क उठता है—'यह श्रोत्र का विषय है, इसलिए 'शब्द होना चाहिए', इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञान-क्रम का नाम 'ईहा' है। इसकी विमर्श-पद्धति अन्वय व्यतिरेकपूर्वक होती है। ज्ञात वस्तु के प्रतिकूल तथ्यों का निरसन और अनुकूल तथ्यों का संकलन कर यह उसके स्वरूप निर्णय की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

ईहा से पहले संशय होता है पर वे दोनो एक नही हैं। संशय कोरा विकल्प खड़ा कर देता है किन्तु समाधान नहीं करता। ईहा संशय के द्वारा खड़े किये हुए विकल्पो को पृथक् करती है। संशय समाधायक नहीं होता, इसीलिए उसे ज्ञानक्रम में नहीं रखा जाता। अवग्रह मे अर्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा में उसके विशेष धर्मो (स्वरूप, नाम जाति आदि) का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

३ अवाय

ईहा के द्वारा ज्ञात सत्-अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—'यह शब्द ही है, स्पर्श, नहीं है'—उसका नाम 'अवाय' है। यह ईहा के पर्यालोचन का समर्थन ही नहीं करता, किन्तु उसका विशेष अवधानपूर्वक निर्णय भी कर डालता है।

४ धारणा

अवाय द्वारा किया गया निर्णय कुछ समय के लिए टिकता है और मन के विषयान्तरित होते ही वह चला जाता है। पीछे अपना संस्कार छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

धारणाकाल में जो सतत उपयोग चलता है, उसे अविच्युति कहा जाता है। उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्बुद्ध होकर स्मृति का कारण बनती है। वासना स्वय ज्ञान नहीं है किन्तु अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में ज्ञान मानी जाती है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष की परम्परा यहाँ पूरी हो जाती है। इसके बाद स्मृति आदि की परोक्ष परम्परा शुरू होती है।

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

श्री भिक्षुन्यायकर्णिका में व्यवहार-प्रत्यक्ष की जो रूपरेखा है, वह नैश्चयिक अवग्रह की भित्ति पर है। व्यावहारिक अवग्रह की धारा का रूप कुछ दूसरा बनता है।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है। इसकी चर्चा ऊपर की गई है। व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमांसा हो चुकती है, उसी वस्तु के नये-नये धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का का काम है। अवाय के द्वारा एक तथ्य का निश्चय होने पर फिर तत्सम्बन्धी दूसरे तथ्य की जिज्ञासा होती है, तब पहले का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह बन जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए फिर ईहा और अवाय होते हैं। यह काम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासाएँ पूरी नहीं होती।

नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा—'यह शब्द ही है'—यहाँ समाप्त हो जाती है। इसके बाद व्यावहारिक-अवग्रह की धारा चलती है। जैसे :—

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है।

[संशय—पशु का है या मनुष्य का ?]

(२) ईहा—स्पष्ट भाषात्मक है, इसलिए मनुष्य का होना चाहिए।

(३) अवाय—(विशेष परीक्षा के पश्चात्) मनुष्य का ही है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के उक्त आकार में—'यह शब्द है' यह अपायात्मक

निश्चय है। इसका फलित यह होता है कि नैश्चयिक अवग्रह का अपाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएं हो सकती हैं। जैसे—

अवस्था-भेद से—यह शब्द बालक का है या बुड्ढे का?

लिङ्ग-भेद से स्त्री का है या पुरुष का? आदि आदि।

व्यवहार-प्रत्यक्ष का क्रमविभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। अर्थ ग्रहण के बाद ही विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय के बाद ही धारणा। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक होती है, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के ये विभाग निर्हेतुक नहीं हैं। यद्यपि वे एक-वस्तु-विषयक ज्ञान की धारा के अविरल रूप हैं, फिर भी उनकी अपनी विशेष स्थितियां हैं, जो उन्हें एक दूसरे से पृथक् करती हैं। (१) 'यह कुछ है'—इतना-सा ज्ञान होते ही प्रमाता दूसरी बात में ध्यान देने लगा, बस वह फिर आगे नहीं बढ़ता। इसी प्रकार 'यह अमुक होना चाहिए'—'यह अमुक ही है'—यह भी एक-एक हो सकते हैं। यह एक स्थिति है जिसे 'असामस्त्येन उत्पत्ति' कहा जाता है।

(२) दूसरी स्थिति है—'क्रमभावित्व'—धारा-निरोध। इनकी धारा अन्त तक चले, यह कोई नियम नहीं किन्तु जब चलती है तब क्रम का उल्लंघन नहीं होता। 'यह कुछ है' इसके बिना 'यह अमुक होना चाहिए'—यह ज्ञान नहीं होता। 'यह अमुक होना चाहिए'—इसके बिना 'यह अमुक ही है' यह नहीं जाना जाता। 'यह अमुक ही है'—इसके बिना धारणा नहीं होती।

(३) तीसरी स्थिति है—'क्रमिक प्रकाश'—ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इससे एक बात और भी साफ होती है कि अपने-अपने विषय में इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण हैं। अवाय स्वतन्त्र निर्णय नहीं करता। ईहा के द्वारा ज्ञात अंश की अपेक्षा से ही उस पर विशेष प्रकाश डालता है।

अपरिचित वस्तु के ज्ञान में इस क्रम का सहज अनुभव होता है। इसमें कोई सन्देह नही, हम एक-एक तथ्य का संकलन करते-करते अन्तिम तथ्य तक पहुँचते हैं। परिचित वस्तु को जानते समय हमें इस क्रम का स्पष्ट भान नहीं होता। इसका कारण है—'ज्ञान का आशु उत्पाद'—शीघ्र उत्पत्ति। वहाँ भी यह क्रम नही टूटता। क्षण भर में बिजली-घर से सुदूर तक बिजली पहुँच जाती है। एक साथ नहीं जाती—गति मे क्रम होता है किन्तु गति का वेग अति तीव्र होता है, इसलिए वह सहज बुद्धिगम्य नही होता।

संशय, ईहा और अवाय का क्रम गौतमोक्त सोलह पदार्थगत संशय,[१५] तर्क[१६] और निर्णय के साथ तुलनीय है[१७]।

ईहा और तर्क का भेद

परोक्ष प्रमाणगत तर्क से ईहा भिन्न है। तर्क से व्याप्ति (अन्वय व्यतिरेक का त्रैकालिक नियम) का निर्णय होता है और ईहा से केवल वर्तमान अर्थ का अन्वय व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है[१८]।

न्याय के अनुसार अविज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिज्ञासा के बाद संशय उत्पन्न होता है। संशयावस्था मे जिस पक्ष की ओर कारण की उत्पत्ति देखने में आती है, उसी की सम्भावना मानी जाती है और वही सम्भावना तर्क है। 'संशयावस्था मे तर्क का प्रयोजन होता है'—यह लक्षण ईहा के साथ संगति कराने वाला है।

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

साधारणतया पाँच इन्द्रियां समकक्ष मानी जाती हैं किन्तु योग्यता की दृष्टि से चक्षु का स्थान कुछ विशेष है। शेष चार इन्द्रियां अपना विषय ग्रहण करने में पटु हैं। इस दशा मे चक्षु पटुतर है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से संपृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए यह पटुतर है। पटु इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यञ्जनावग्रह होता है। चक्षु प्राप्यकारी नही, इसलिए इसका व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

व्यञ्जनावग्रह सम्पर्कपूर्वक होने वाला अव्यक्त ज्ञान है। अर्थावग्रह उसी का चरम अश है। पटु इन्द्रियां एक साथ विषय को पकड़ नही सकती। व्यञ्जनावग्रह के द्वारा अव्यक्त ज्ञान होते होते जब वह पुष्ठ हो जाता है, तब उसको अर्थ का अवग्रह होता है। चक्षु अपना विषय तत्काल पकड़ लेता है, इसलिए उसे पूर्वभावी अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

मन की भी यही बात है। वह चक्षु की भांति व्यवहित पदार्थ को जान लेता है, इसलिए उसे भी व्यञ्जनावग्रह की उपेक्षा नहीं होती।

बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नही मानते। उक्त दोनो दृष्टियो से जैन दृष्टि भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नही जानता। जो शब्द श्रोत्र से संपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। इसलिए श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, इसलिए वे प्राप्यकारी नही हो सकते। इनका ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं होता।

विज्ञान के अनुसार

......चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे चक्षु को अपने विषय का ज्ञान होता है। नैयायिको की प्राप्यकारिता का आधार है चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियो का पदार्थ से संपृक्त होना। विज्ञान इसे स्वीकार नही करता। वह आँख को एक बढ़िया केमेरा (Camera) मानता है। उसमे दूरस्थ वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। जैन दृष्टि की अप्राप्यकारिता मे इससे कोई बाधा नही आती। कारण कि विज्ञान के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नही होता। काच स्वच्छ होता है, इसलिए उसके सामने जो वस्तु आती है, उसकी छाया काच में प्रतिबिम्बित हो जाती है। ठीक यही प्रक्रिया आँख के सामने कोई वस्तु आने पर होती है। काच मे पड़ने वाला वस्तु का प्रतिबिम्ब और वस्तु एक नहीं होते, इसलिए काच उस वस्तु से संपृक्त नहीं कहलाता। ठीक यही बात आँख के लिए है।

व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद :—

	अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
	व्यञ्जनावग्रह	अर्थावग्रह			
स्पर्शन	,,	,,	,,	,,	,,
रसन	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु	×	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र	,,	,,	,,	,,	,,
मन	×	,,	,,	,,	,,

अवग्रह आदि का काल मान

व्यञ्जनावग्रह—असंख्य समय।

अर्थावग्रह—एक समय।

ईहा—अन्तर-मुहूर्त्त।

अवाय—अन्तर मुहूर्त्त।

धारणा—सख्येय काल और असख्येय काल।

मति के दो भेद हैं—(१) श्रुत-निश्रित (२) अश्रुत-निश्रत [१९]। श्रुत-निश्रित मति के २८ भेद हैं, जो व्यवहार-प्रत्यक्ष कहलाते हैं [२०]। औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय अश्रुत-निश्रित है[२१]। नन्दी में श्रुत-निश्रित मति के २८ भेदो का विवरण है। अश्रुत निश्रित के चार भेदो का इन में समावेश होता है या नही इसकी कोई चर्चा नहीं। मति के २८ भेद वाली परम्परा सर्वमान्य है किन्तु २८ भेदों की स्वरूप रचना में दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक परम्परा अवग्रह-अभेदवादियो की है। इसमे व्यञ्जनावग्रह की अर्थावग्रह से भिन्न गणना नही होती, इसलिए श्रुत निश्रित मति के २४ भेद व अश्रुत-निश्रित के चार—इस प्रकार मति के २८ भेद बनते हैं [२२]।

दूसरी परम्परा जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण की है। इसके अनुसार अवग्रह आदि चतुष्टय अश्रुत-निश्रित और श्रुत-निश्रित मति के सामान्य धर्म हैं, इसलिए भेद-गणना में अश्रुत-निश्रित मति श्रुत-निश्रित में समाहित हो जाती है[२३]।

फलस्वरूप व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद और मति के २८ भेद एक रूप बन जाते हैं। इसका आधार स्थानाङ्ग २-१-७१ है। वहाँ व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह की श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित—इन दोनो भेदों में गणना की है। अश्रुत-निश्रित बुद्धि-चतुष्टय मानस ज्ञान होता है। उसका व्यञ्जनावग्रह नही होता, इससे फलित होता है कि बुद्धि-चतुष्टय के अतिरिक्त भी अवग्रह आदि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

नन्दी के अनुसार अवग्रहादि चतुष्क केवल श्रुत-निश्रित हैं। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वह श्रुत-निश्रित और अश्रुत निश्रित दोनों है। स्थानाङ्ग के अनुसार वह दोनो तो है ही, विशेष बात यह है कि बुद्धि-चतुष्टय में होने वाला अवग्रहादि चतुष्क ही अश्रुत-निश्रित नही किन्तु उसके अतिरिक्त भी अवग्रहादि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है[२४]।

परोक्ष

(१) इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह 'आत्म-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय ज्ञान—पौद्गलिक-इन्द्रिय—पदार्थ।

(२) धूम आदि की सहायता से अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय—धूम—अग्नि।

पहली परिभाषा नैश्चयिक है। इसके अनुसार संव्यवहार-प्रत्यक्ष को वस्तुतः परोक्ष माना जाता है।

मति और श्रुत—ये दोनों ज्ञान आत्म निर्भर नहीं हैं, इसलिए ये परोक्ष कहलाते हैं [1]। मति, साक्षात् रूप में पौद्गलिक इन्द्रिय और मन के और परम्परा के रूप में अर्थ और आलोक के, अधीन होती है। श्रुत, साक्षात् रूप में मन के और परम्परा के रूप में शब्द-संकेत तथा इन्द्रिय (मति-ज्ञानांश) के अधीन होता है। मति में इन्द्रिय मन की अपेक्षा समकक्ष है, श्रुत में मन का स्थान पहला है।

मति के दो साधन हैं—इन्द्रिय और मन। मन द्विविध धर्मा है—अवग्रह आदि धर्मवान् और स्मृत्यादि धर्मवान्। इस स्थिति में मति दो भागो में बंट जाती है—(१) व्यवहार-प्रत्यक्ष मति। (२) परोक्ष-मति। इन्द्रियात्मक और अवग्रहादि धर्मक मनरूप मति व्यवहार-प्रत्यक्ष है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विभाग में बतलाया जा चुका है।

स्मृत्यादि धर्मक, मन रूप परोक्ष-मति के चार विभाग होते हैं :—

(१) स्मृति।

(२) प्रत्यभिज्ञा।

(३) तर्क।

(४) अनुमान।

स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभवमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञा-मूलक, अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। श्रुत

का साधन मन होता है। उसका एक भेद है—'आगम'। वह वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति प्रामाण्य

जैन तर्क-पद्धति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राच्य भारतीय तर्क-पद्धति मे स्मृति का प्रामाण्य स्वीकृत नही है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय को ग्रहण करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण वह अप्रमाण है—स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। जैन दर्शन की युक्ति यह है कि अनुभव वर्तमान अर्थ को ग्रहण करता है और स्मृति अतीत अर्थ को, इसलिए यह कथंचित् अगृहीतग्राही है। काल की दृष्टि से इसका विषय स्वतन्त्र है। दूसरी बात—गृहीतग्राही होने मात्र से स्मृति का प्रामाण्य धुल नहीं जाता।

प्रामाण्य का प्रयोजक अविसंवाद होता है, इसलिए अविसवादक स्मृति का प्रामाण्य अवश्य होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा

न्याय, वैशेषिक और मीमासक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं मानते। क्षणिकवादी बौद्ध की दृष्टि मे प्रत्यक्ष और स्मृति की संकलना हो भी कैसे सकती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष का विषय होता है—दृश्य वस्तु (वर्तमान-पर्यायव्यापी द्रव्य)। इसका (प्रत्यभिज्ञा) का विषय बनता है संकलन—अतीत और प्रत्यक्ष की एकता, पूर्व और अपर पर्यायव्यापी द्रव्य, अथवा दो प्रत्यक्ष द्रव्यो या दो परोक्ष द्रव्यो का संकलन। हमारा प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति त्रिकालविषयक नहीं होता, इसलिए उससे सामने खड़ा व्यक्ति जाना जा सकता है किन्तु 'यह वही व्यक्ति है'—यह नही जाना जा सकता। उसकी एकता का बोध स्मृति के मेल से होता है, इसलिए यह अस्पष्ट-परोक्ष है। प्रत्यक्ष और तर्क के मेल से होने वाला अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण है, तब फिर प्रत्यक्ष और स्मृति के मेल से होने वाली प्रत्यभिज्ञा का स्वतन्त्र स्थान क्यों नहीं होना चाहिए?

प्रत्यक्षद्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने होती हैं फिर भी उनका

संकलन इन्द्रिय से नहीं होता, विचारने से होता है। विचार के समय उनमें से एक ही वस्तु मन के प्रत्यक्ष होती है, इसलिए यह भी प्रत्यक्ष नही होता। परोक्ष द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने नहीं होतीं, इसलिए वह प्रत्यक्ष का स्पर्श नही करता।

प्रत्यभिज्ञा को दूसरे शब्दो मे तुलनात्मक ज्ञान, उपमित करना या पहचानना भी कहा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञान मे दो अर्थो का संकलन होता है। उसके तीन रूप बनते हैं—

(१) प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन :—

(क) यह वही निर्ग्रन्थ है।

(ख) यह उसके सदृश है।

(ग) यह उससे विलक्षण है।

(घ) यह उससे छोटा है।

पहले आकार मे—निर्ग्रन्थ की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, इसलिए यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा' है।

दूसरे आकार मे—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से तुलना है। इसलिए यह 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञा है।

तीसरे आकार मे—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से विलक्षणता है, इसलिए यह 'वैसदृश्य प्रत्यभिज्ञा' है।

चौथे आकार मे—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु प्रतियोगी है, इसलिए यह 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा' है।

(२) दो प्रत्यक्षो का संकलन

(क) यह इसके सदृश है।

(ख) यह इससे विलक्षण है।

(ग) यह इससे छोटा है।

इसमे दोनो प्रत्यक्ष हैं।

(३) दो स्मृतियो का संकलन

(क) वह उसके सदृश है।

(ख) वह उससे विलक्षण है।

(ग) वह उससे छोटा है।

इसमें दोनो परोक्ष हैं।

तर्क

नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं [२]। बौद्ध इसे अप्रमाण मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार यह परोक्ष-प्रमाण का एक भेद है। यह प्रत्यक्ष में नहीं समाता। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाता।

यह अग्नि है, यह धुंआ है—यह प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु :—

(१) धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है। (२) धूम अग्नि में ही होता है।	अन्वय व्याप्ति
(३) अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता।	व्यतिरेक व्याप्ति

—यह प्रत्यक्ष का काम नही, तर्क का है।

हम प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सहायता से अनेक प्रामाणिक नियमो की सृष्टि करते हैं। वे ही नियम हमें अनुमान करने का साहस बंधाते हैं। तर्क को प्रमाण माने बिना अनुमान की प्रामाणिकता अपने आप मिट जाती है। तर्क और अनुमान की नींव एक है। भेद सिर्फ ऊपरी है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का काम है, धुएं के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बताना। अनुमान का काम है, उस नियम के सहारे अमुक स्थान में अग्नि का ज्ञान कराना। तर्क से धुएं के साथ अग्नि की व्याप्ति जानी जाती हैं किन्तु इस पर्वत में 'अग्नि है' यह नहीं जाना जाता। 'इस पर्वत मे अग्नि है'—यह अनुमान का साध्य है। तर्क का साध्य केवल अग्नि (धर्म) होता है। अनुमान का साध्य होता है—"अग्निमान् पर्वत" (धर्मी)। दूसरे शब्दों में तर्क के साध्य का आधार अनुमान का साध्य बनता है।

न्याय की तीन परिधियां हैं—

(१) सम्भव-सत्य।

(२) अनुमानतः सत्य ।

(३) ध्रुव सत्य ।

अकुशल व्यक्ति सम्भव-सत्य से सत्य को ढूंढता है । न्यायाधीश अनुमानित सत्य से सत्य का पता लगाते हैं । दार्शनिक का न्याय इन दोनों से भिन्न हैं। वह ध्रुव सत्य—व्याप्ति के द्वारा सत्य की शोध करता है। ध्रुव-सत्य नियमो की निश्चित जानकारी तर्क है। उसके द्वारा निश्चित नियमो के अनुसार अनुमान होता है।

तर्क का प्रयोजकत्व

"स्वभावे तार्किका भग्नाः"—स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई प्रयोजन नही होता। इसीलिए जैन दर्शन में दो प्रकार के पदार्थ माने हैं—हेतु गम्य (तर्क-गम्य) और अहेतुगम्य (तर्क-अगम्य)।

पहली बात—तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के बिना और किसी से नहीं होता। इसका निश्चय अनुमान से किया जाये तो उसकी (व्याप्ति के निश्चय के लिए प्रयुक्त अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिए फिर एक दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर ही होता है। साधन और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही साध्य का ज्ञान होता है।

पहले अनुमान की व्याप्ति 'ठीक है या नहीं' इस निश्चय के लिए दूसरा अनुमान आये तो दूसरे अनुमान की वही गति होगी और उसकी व्याप्ति का निर्णय करने के लिए फिर तीसरा अनुमान आयेगा। इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अन्त न होगा। यह अनवस्था का रास्ता है, इससे कोई निर्णय नही मिलता।

दूसरी बात—व्याप्ति अपने निश्चय के लिए अनुमान का सहारा ले और अनुमान व्याप्ति का—यह अन्योन्याश्रय दोष है। अपने-अपने निश्चय में परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने का अर्थ है—अनिश्चय। जिसका यह घोड़ा है, मै उसका सेवक हूँ और जिसका मैं सेवक हूँ उसका यह घोड़ा है—इसका अर्थ

यह हुआ कि कुछ भी समझ में नहीं आया। इसलिए व्याप्ति का निश्चय करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

अनुमान

अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हें नहीं साधता। वह 'इस पर्वत में अग्नि है' (अग्निमानयं पर्वतः) इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।

अनुमान का परिवार

तर्क-शास्त्र के बीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप में होता है। कई नैयायिक आचार्य पञ्चवाक्यात्मक प्रयोग को ही न्याय मानते हैं[३]। निगमन फल-प्राप्ति है। वह समस्त प्रमाणों के व्यापार से होती है[४]। प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु में अनुमान, दृष्टान्त में प्रत्यक्ष, उपनय में उपमान—इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबके योग से फलितार्थ निकलता है—ऐसा न्याय-वार्तिककार का मत है। व्यवहार-दृष्टि से जैन-दृष्टि भी इससे सहमत है। यद्यपि पञ्चावयव में प्रमाण का समावेश करना आवश्यक नही लगता, फिर भी तर्क-शास्त्र का मुख्य विषय साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि है, इसमें द्वैत नही हो सकता।

अनुमान अपने लिए स्वार्थ होता है, वैसे दूसरों के लिए परार्थ भी होता है। 'स्वार्थ' ज्ञानात्मक होता है और 'परार्थ' वचनात्मक। 'स्वार्थ' की दो शाखाएं होती हैं—पक्ष और हेतु। 'परार्थ' की, जहाँ श्रोता तीव्र बुद्धि होता है वहाँ सिर्फ ये दो शाखाएं और जहाँ श्रोता मंद बुद्धि होता है वहाँ पांच शाखाएं होती हैं —

(१) पक्ष।
(२) हेतु।
(३) दृष्टान्त।
(४) उपनय।
(५) निगमन[१]

स्वार्थ और परार्थ

अनुमान वास्तव में 'स्वार्थ' ही होता है। अनुमाता श्रोता को वचनात्मक हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान कराता है, तब वह वचन श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। वचन-प्रतिपादक के अनुमान का कार्य और श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। प्रतिपादक के अनुमान की अपेक्षा कार्य को कारण मानकर (कारण में कार्य का उपचार कर) और श्रोता के अनुमान की अपेक्षा कारण को कार्य मानकर (कार्य में कारण का उपचार कर) वचन को अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

व्याप्ति के दो भेद हैं—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा है यह हमारा पक्ष है। 'चैतन्यगुण मिलता है, इसलिए वह है' यह हमारा साधन है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—'जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा है'—किन्तु इसके लिए दृष्टान्त कोई नहीं बन सकता। क्योंकि यह व्याप्ति अपने विषय को अपने आप में समेट लेती है। उसका समानधर्मा कोई बचा नहीं रहता। बहिर्व्याप्ति में साधर्म्य मिलता है। पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। पर्वत अग्निमान् है'—यह पक्ष है। धूम है, इसलिए वह अग्निमान् है—यह साधन है। 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है'—इसका दृष्टान्त बन सकता है—जैसे—रसोई घर या अन्य अग्निमान् प्रदेश।

हेतु—भाव और अभाव

अभाव चार होते हैं [५]:—

(१) प्राक्।

(२) प्रध्वंस।

(३) इतरेतर।

(४) अत्यन्त।

भाव जैसे वस्तु स्वरूप का साधक है, वैसे अभाव भी। भाव के बिना वस्तु की सत्ता नहीं बनती तो अभाव के बिना भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं बनती।

'है' यह जैसे वस्तु का स्वभाव है वैसे ही 'स्व लक्षण है—असंकीर्ण है'—यह भी उसका स्वभाव है।

अगर हम वस्तु को केवल भावात्मक मानें तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वह होता है। एक क्षण से दूसरे क्षण में, एक देश से दूसरे देश में, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में वस्तु जाती है। यह कालकृत, देशकृत और अवस्थाकृत परिवर्तन वस्तु से सर्वथा भिन्न नहीं होता। दूसरे क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु से पहले क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं सकता, अगर अभाव उसका स्वभाव न हो। परिवर्तन का अर्थ ही यही है—भाव और अभाव की एकाश्रयता। 'सर्वथा मिट जाय, सर्वथा नया बन जाय' यह परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन यह होता है—'जो मिटे भी बने भी और फिर भी धारा न टूटे'।

उपादान कारण में इसकी साफ भावना है। कारण ही कार्य बनता है। कारण का भाव मिटता है, कार्य का अभाव मिटता है तब एक वस्तु बनती है। बनते बनते उसमें कारण का अभाव और कार्य का भाव आ जाता है। यह कार्यकारण सापेक्ष भावाभाव एक वस्तुगत होते हैं, वैसे ही स्वगुण-परगुणापेक्ष भावाभाव भी एक वस्तुगत होते हैं। अगर यह न माना जाय तो वस्तु निर्विकार, अनन्त, सर्वात्मक और एकात्मक बन जाएगी[1]। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तु में विकार होता है। पहला रूप मिटता है, दूसरा बनता है। मिटने वाला रूप बनने वाले रूप का प्राक्-अभाव होता है, दूसरे शब्दों में उपादान-कारण कार्य का प्राक्-अभाव होता है। बीज मिटा, अंकुर बना। बीज के मिटने की दशा में ही अंकुर का प्रादुर्भाव होगा। प्राक्-अभाव अनादि-सान्त है। जब तक बीज का अंकुर नहीं बनता, तब तक बीज में अंकुर का प्राक्-अभाव रहता है। अंकुर बनते ही प्राक्-अभाव मिट जाता है। जो लोग प्रत्येक अनादि वस्तु को नाश रहित (अनन्त) मानते हैं, वह अयुक्त है, यह इससे समझा जा सकता है।

प्राक्-अभाव जैसे निर्विकारता का विरोधी है, वैसे ही प्रध्वंसाभाव वस्तु की अनन्तता का विरोधी है। प्रध्वंस अभाव न हो तो वस्तु बनने के बाद मिटने का नाम ही न ले, वह अनन्त हो जाय। पर ऐसा होता नहीं है।

दूसरी पर्याय बनती है, पहली मिट जाती है। वृक्ष कार्य है। वह टूटता है, तब उसकी लकड़ी बनती है। दूसरे कार्य में पहले कार्य का प्रध्वस-रूप अभाव होता है। लकड़ी में वृक्ष का अभाव है या यों कहिए लकड़ी वृक्ष का प्रध्वंसाभाव है। लकड़ी की आविर्भाव-दशा में वृक्ष की तिरोभाव-दशा हुई है। प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त है। जिस वृक्ष की लकड़ी बनी, उससे वही वृक्ष कभी नहीं बनता। इससे यह भी समझिए कि प्रत्येक सादि पदार्थ सान्त नहीं होता।

ऊपर की पंक्तियों को थोड़े में यूं समझ लीजिए—वर्तमान दशा पूर्वदशा का कार्य बनती है और उत्तर दशा का कारण। पूर्वदशा उसका प्राक्-अभाव होता है और उत्तर दशा प्रध्वंस-अभाव।

एक बात और साफ कर लेनी चाहिए कि द्रव्य सादि-सान्त नहीं होते। सादि-सान्त द्रव्य की पर्याएं (अवस्थाएं) होती हैं। अवस्थाएं अनादि-अनन्त नहीं होतीं किन्तु पूर्व-अवस्था कारण रूप में अनादि है। उससे बनने वाली वस्तु पहले कभी नहीं बनी। उत्तर अवस्था मिटने के बाद फिर वैसी कभी नहीं बनेगी, इसलिए वह अनन्त है। यह सारी एक ही द्रव्य की पूर्व-उत्तरवर्ती दशाओं की चर्चा है। अब हमें अनेक सजातीय द्रव्यों की चर्चा करनी है। खम्भा पौद्गलिक और घड़ा भी पौद्गलिक है किन्तु खम्भा घड़ा नहीं है और घड़ा खम्भा नहीं है। दोनों एक जाति के हैं फिर भी दोनों दो हैं। यह 'इतर-इतर-अभाव' आपस में एक दूसरे का अभाव है [७]। खम्भे में घड़े का और घड़े में खम्भे का अभाव है। यह न हो तो हम वस्तु का लक्षण कैसे बनायें? किसको खम्भा कहें और किसको घड़ा। फिर सब एकमेक बन जाएंगे, यह अभाव सादि-सान्त है। खम्भे के पुद्गल स्कन्ध घड़े के रूप में और घड़े के पुद्गल-स्कंध खम्भे के रूप में बदल सकते हैं किन्तु सर्वथा विजातीय द्रव्य के लिए यह नियम नहीं। चेतन-अचेतन और अचेतन-चेतन तीन काल में भी नहीं होते। इसका नाम है—अत्यन्त अभाव [८]। यह अनादि-अनन्त है। इसके बिना चेतन और अचेतन—इन दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों की तादात्म्य-निवृत्ति सिद्ध नहीं होती।

साध्य—धर्म और धर्मी

साध्य और साधन का सम्बन्ध मात्र जानने में साध्य धर्म ही होता है।

कारण कि धुएं के साथ अग्नि होने का नियम है, वैसे अग्निमान् पर्वत होने का नियम नहीं बनता। अग्नि पर्वत के सिवाय अन्यत्र भी मिलती है। साधन के प्रयोगकाल में साध्य धर्मी होता है। धर्मी तीन प्रकार का होता है—

(१) बुद्धि-सिद्ध।

(२) प्रमाण-सिद्ध।

(३) उभय-सिद्ध।

(१) प्रमाण से जिसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो, वह 'बुद्धि-सिद्ध धर्मी' होता है। जैसे—'सर्वज्ञ है'। अस्तित्व सिद्धि से पहले सर्वज्ञ किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नही है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पहले पहल जब धर्मी बनाया जाता है, तब उसका अस्तित्व बुद्धि से ही माना जाता है। प्रमाण द्वारा उसका अस्तित्व बाद में सिद्ध किया जाएगा। थोड़े में यों समझिए—जिस साध्य का अस्तित्व या नास्तित्व साधना हो, वह धर्मी बुद्धि-सिद्ध या विकल्प-सिद्ध होता है।

(२) जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से सिद्ध हो, वह धर्मी 'प्रमाण सिद्ध' होता है। 'इस बादल में पानी है'—बादल हमारे प्रत्यक्ष है। उसमे पानी धर्म को सिद्ध करने के लिए हमें बादल, जो धर्मी है, को कल्पना से मानने की कोई आवश्यकता नही होती।

(३) 'मनुष्य मरणशील है'—यहाँ म्रियमाण मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है और मृत तथा मरिष्यमाण मनुष्य बुद्धि-सिद्ध। "मनुष्य मरणशील है" इसमे कोई एक खास धर्मी नहीं, सभी मनुष्य धर्मी हैं। प्रमाण-सिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है, उस स्थिति में उभय-सिद्ध धर्मी जात्यात्मक। उभय-सिद्ध धर्मी में सत्ता असत्ता के सिवाय शेष सब धर्म साध्य हो सकते है।

अनुमान को नास्तिक के सिवाय प्रायः सभी दर्शन प्रमाण मानते हैं। नास्तिक व्याप्ति की निर्णायकता स्वीकार नहीं करते। उसके बिना अनुमान हो नही सकता। व्याप्ति को सदिग्ध मानने का अर्थ तर्क से परे हटना होना चाहिए।
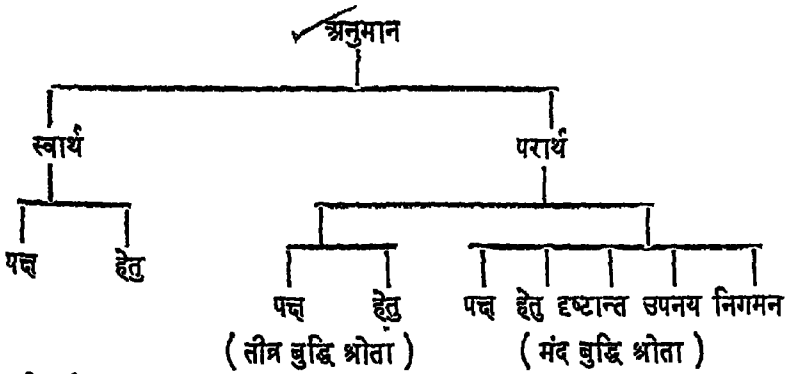
हेतु के प्रकार

हेतु के दो प्रकार होते हैं —(१) उपलब्धि (२) अनुपलब्धि । ये दोनो विधि और निषेध के साधक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपलब्धि को विधि-साधक हेतु के रूप में स्थान नही दिया है।

परीक्षामुख में विधि-साधक छह उपलब्धियो एवं तीन अनुपलब्धियो का तथा निषेध-साधक छह उपलब्धियो एवं सात अनुपलब्धियो का निरूपण है। इसका विकास प्रमाणनयतत्वालोक मे हुआ है। वहाँ विधि-साधक छह उपलब्धियो एवं पांच अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक सात सात उपलब्धियो एवं अनुपलब्धियों का उल्लेख है। प्रस्तुत वर्गीकरण प्रमाणनयतत्वा-लोक के अनुसार है।

विधि-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से अविरुद्ध रूप में उपलब्ध होने के कारण जो हेतु साध्य की सत्ता को सिद्ध करता है, वह अविरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्ध-उपलब्धि के छह प्रकार हैं :—

(१) अविरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि :—साध्य—शब्द परिणामी है ।

हेतु—क्योंकि वह प्रयत्न-जन्य है। यहाँ प्रयत्न-जन्यत्व व्याप्य है। वह परिणामित्व से अविरुद्ध है। इसलिए प्रयत्न-जन्यत्व से शब्द का परिणामित्व सिद्ध होता है।

(२) अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि :—साध्य—इस पर्वत पर अग्नि है।

हेतु—क्योंकि धुआं है।

धुआं अग्नि का कार्य है। वह अग्नि से अविरुद्ध है। इसलिए धूम-कार्य से पर्वत पर ही अग्नि की सिद्धि होती है।

(३) अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि :—

साध्य—वर्षा होगी।

हेतु—क्योंकि विशिष्ट प्रकार के बादल मंडरा रहे हैं।

बादलो की विशिष्ट-प्रकारता वर्षा का कारण है और उसका विरोधी नही है।

(४) अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहर्त्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा।

हेतु—क्योकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है।

'पुनर्वसु का उदय' यह हेतु 'तिष्योदय' साध्य का पूर्वचर है और उसका विरोधी नहीं है।

(५) अविरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहर्त्त पहले पूर्वा-फाल्गुनी का उदय हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तर-फाल्गुनी का उदय हो चुका है।

उत्तर-फाल्गुनी का उदय पूर्वा-फाल्गुनी के उदय का निश्चित उत्तरवर्ती है।

(६) अविरुद्ध-सहचर-उपलब्धि :—

साध्य—इस आम में रूप विशेष है।

हेतु—क्योकि रस विशेष आस्वाद्यमान है।

यहाँ रस (हेतु) रूप (साध्य) का नित्य सहचारी है।

निषेध-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धोपलब्धि के सात प्रकार हैं :—

(१) स्वभाव-विरुद्ध-उपलब्धि :—

साध्य—सर्वथा एकान्त नही है।

हेतु—क्योंकि अनेकान्त उपलब्ध हो रहा है।

अनेकान्त—एकान्त स्वभाव के विरुद्ध है।

(२) विरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि :—

साध्य—इस पुरुष का तत्त्व में निश्चय नहीं है।

हेतु—क्योंकि सन्देह है।

'सन्देह है' यह 'निश्चय नहीं है' इसका व्याप्य है। इसलिए सन्देह-दशा में निश्चय का अभाव होगा। ये दोनो विरोधी हैं।

(३) विरुद्ध-कार्य-उपलब्धि :—

साध्य—इस पुरुष का क्रोध शान्त नही हुआ है।

हेतु—क्योंकि मुख-विकार हो रहा है।

मुख-विकार क्रोध की विरोधी वस्तु का कार्य है।

(४) विरुद्ध-कारण-उपलब्धि :—

साध्य—यह महर्षि असत्य नही बोलता।

हेतु—क्योकि इसका ज्ञान राग-द्वेष की कलुषता से रहित है।

यहाँ असत्य-वचन का विरोधी, सत्य-वचन है और उसका कारण राग-द्वेष रहित ज्ञान-सम्पन्न होना है।

(५) अविरुद्ध-पूर्वचर उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योकि अभी रोहिणी का उदय है।

यहाँ प्रतिषेध्य पुष्य नक्षत्र के उदय से विरुद्ध पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। रोहिणी के पश्चात् मृगशीर्ष, आर्द्रा और पुनर्वसु का उदय होता है। फिर पुष्य का उदय होता है।

(६) विरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पहिले मृगशिरा का उदय नही हुआ था।

हेतु—क्योकि अभी पूर्वा-फाल्गुनी का उदय है।

यहाँ मृगशीर्ष का उदय प्रतिषेध्य है। पूर्वा-फाल्गुनी का उदय उसका विरोधी है। मृगशिरा के पश्चात् क्रमशः आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा और पूर्वा फाल्गुनी का उदय होता है।

(७) विरुद्ध-सहचर-उपलब्धि :—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान नहीं है।

हेतु—क्योकि सम्यग् दर्शन है।

मिथ्या ज्ञान और सम्यग् दर्शन एक साथ नहीं रह सकते।

निषेध-साधक-अनुपलब्धि-हेतु

प्रतिषेध्य से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु, उसका प्रतिषेध्य सिद्ध करता है, वह अविरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार हैं :—

(१) अविरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ घट नहीं है।

हेतु—क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव उपलब्ध नहीं हो रहा है।

चक्षु का विषय होना घट का स्वभाव है। यहाँ इस अविरुद्ध स्वभाव से ही प्रतिषेध्य का प्रतिषेध है।

(२) अविरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ पनस नही है।

हेतु—क्योंकि वृक्ष नहीं है।

वृक्ष व्यापक है, पनस व्याप्य। यह व्यापक की अनुपलब्धि में व्याप्य का प्रतिषेध है।

(३) अविरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ अप्रतिहत शक्ति वाले बीज नहीं हैं।

हेतु—क्योंकि अङ्कुर नहीं दीख रहे हैं।

यह अविरोधी कार्य की अनुपलब्धि के कारण का प्रतिषेध है।

(४) अविरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि :—

साध्य—इस व्यक्ति मे प्रशमभाव नहीं है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नही हुआ है।

प्रशमभाव—सम्यग् दर्शन का कार्य है। यह कारण के अभाव मे कार्य का प्रतिषेध है।

(५) अविरुद्ध-पूर्वचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी चित्रा का उदय नही है।

यह चित्रा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव द्वारा स्वाति के उत्तरवर्ती उदय का प्रतिषेध है।

(६) अविरुद्ध-उत्तरचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वाभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तर भाद्रपदा का उदय नहीं है।

यह उत्तर भाद्रपदा के उत्तरवर्ती उदय के अभाव के द्वारा पूर्व भाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय का प्रतिषेध है।

(७) अविरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसे सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन नहीं है।

सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन दोनो नियत सहचारी हैं। इसलिए यह एक के अभाव में दूसरे का प्रतिषेध है।

विधि-साधक अनुपलब्धि-हेतु

साध्य के विरुद्ध रूप की उपलब्धि न होने के कारण जो हेतु उसकी सत्ता को सिद्ध करता है, वह विरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धानुपलब्धि हेतु के पांच प्रकार हैं :—

(१) विरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसके शरीर में रोग है।

हेतु—क्योंकि स्वस्थ प्रवृत्तियां नहीं मिल रहीं हैं। स्वस्थ प्रवृत्तियो का भाव रोग विरोधी कार्य है। उसकी यहाँ अनुपलब्धि है।

(२) विरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि :—

साध्य—यह मनुष्य कष्ट में फंसा हुआ है।

हेतु—क्योंकि इसे इष्ट का सयोग नही मिल रहा है। कष्ट के भाव का विरोधी कारण इष्ट सयोग है, वह यहाँ अनुपलब्ध है।

(३) विरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि :—

साध्य—वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है।

हेतु—क्योंकि एकान्त स्वभाव ही अनुपलब्धि है।

(४) विरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ छाया है।

हेतु—क्योंकि उष्णता नही है।

(५) विरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान प्राप्त है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं है।
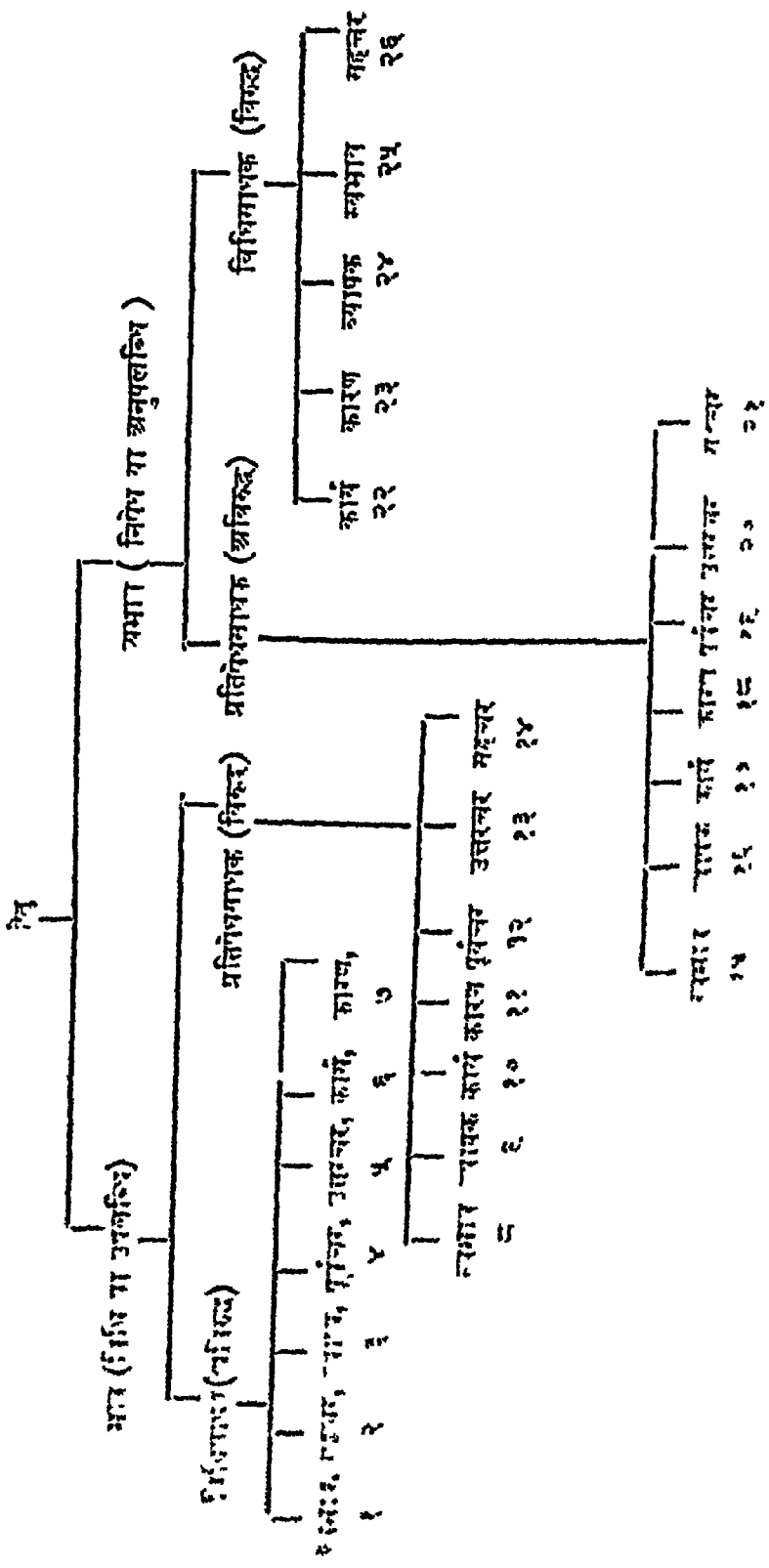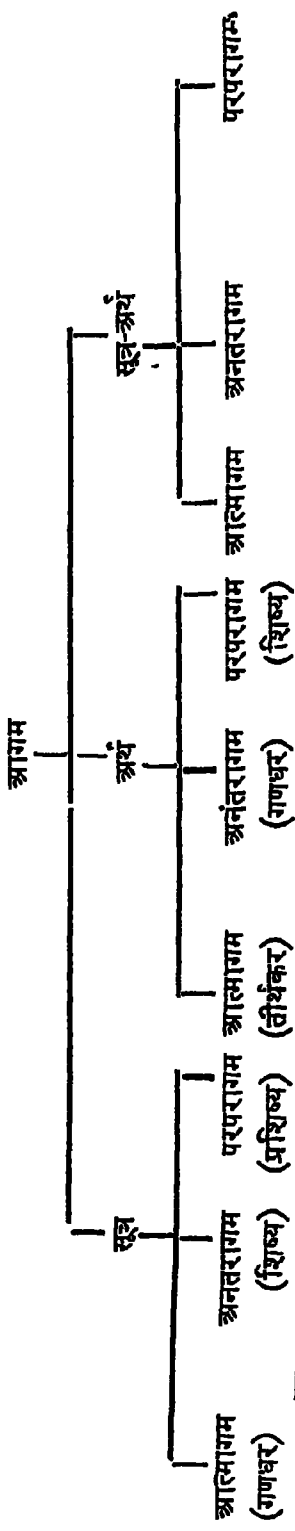
आगम
सूत्र
अर्थ
सूत्र-अर्थ
आत्मागम (गणधर)
अनतरागम (शिष्य)
परपरागम (प्रशिष्य)
आत्मागम (तीर्थंकर)
अनंतरागम (गणधर)
परपरागम (शिष्य)
आत्मागम
अनतरागम
परपरागम
तीर्थंकर की अपेक्षा—अर्थ—आत्मागम।
गणधर की अपेक्षा—सूत्र—आत्मागम-अर्थ—अनतरागम।
गणधर -शिष्य की अपेक्षा—सूत्र—अनंतरागम-अर्थ—परम्परागम।
तद्-शिष्य शिष्य-की अपेक्षा—सूत्र—परंपरागम-अर्थ—परम्परागम।

ज्ञाता, ज्ञेय और वचन, इन तीनों की संहिता आगम का समग्र रूप है।

ज्ञाता ज्ञान कराने वाला और करने वाला दोनो होते हैं। ज्ञेय पहले ने जान रखा है, दूसरे को जानना है। वचन पहले के ज्ञान का प्रकाश है और दूसरे के ज्ञान का साधन। ज्ञेय अनन्तशक्तियों, गुणों, अवस्थाओं का अखण्ड-पिण्ड होता है। उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है। ज्ञेय आगम की रीढ होता है, फिर भी उसके आधार पर आगम के विभाग नहीं होते। ज्ञाता की दृष्टि से इसका एक भेद होता है—अर्थागम। वचन की दृष्टि से इसके तीन विभाग बनते हैं—

(१) स्याद्वाद—प्रमाण वाक्य।
(२) सद्वाद—नय वाक्य।
(३) दुर्णय—मिथ्या श्रुत।

दूसरे शब्दों में—

(१) अनेकान्त वचन,
(२) सत्-एकान्त वचन
(३) असत्-एकान्त वचन।

वाक्-प्रयोग

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा बनती है। भाषा अनक्षर भी होती है पर वह स्पष्ट नहीं होती। स्पष्ट भाषा अक्षरात्मक ही होती है। अक्षर तीन प्रकार के हैं [८]—

(१) संज्ञाक्षर—अक्षर—लिपि।
(२) व्यञ्जनाक्षर—अक्षर का उच्चारण।
(३) लब्ध्यक्षर—अक्षर का ज्ञान—उपयोग।

ये तीन प्रकार के हैं—(१) रूढ (२) यौगिक (३) मिश्र (१) जिनकी उत्पत्ति नहीं होती, वे शब्द 'रूढ़' होते हैं [९]। (२) गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि के योग से बनने वाले शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं [१०]। (३) जिनमे दो शब्दों का योग होने पर भी परावृत्ति नहीं हो सकती, वे 'मिश्र' हैं [११]।

नाम और क्रिया के एकाश्रयी योग को वाक्य कहते हैं। शब्द या वचन ध्वनि रूप पौद्गलिक परिणाम होता है। वह ज्ञापक या बताने वाला होता है। वह चेतन के वाक्प्रयत्न से पैदा होता है और अवयव-संयोग से भी, सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। अचेतन के संघात और भेद से पैदा होता है, वह निरर्थक ही होता है, अर्थ प्रेरित नहीं होता [१२]।

शब्द
भाषा शब्द
नो-भाषा शब्द
अक्षर सम्बद्ध
नो-अक्षर सम्बद्ध
आतोद्यशब्द
नो आतोद्यशब्द
तत
वितत
भूषण शब्द
नो-भूषण शब्द
घन शब्द
शुशिर शब्द
घन शब्द
शुशिर शब्द
ताल शब्द
पार्ष्णि शब्द
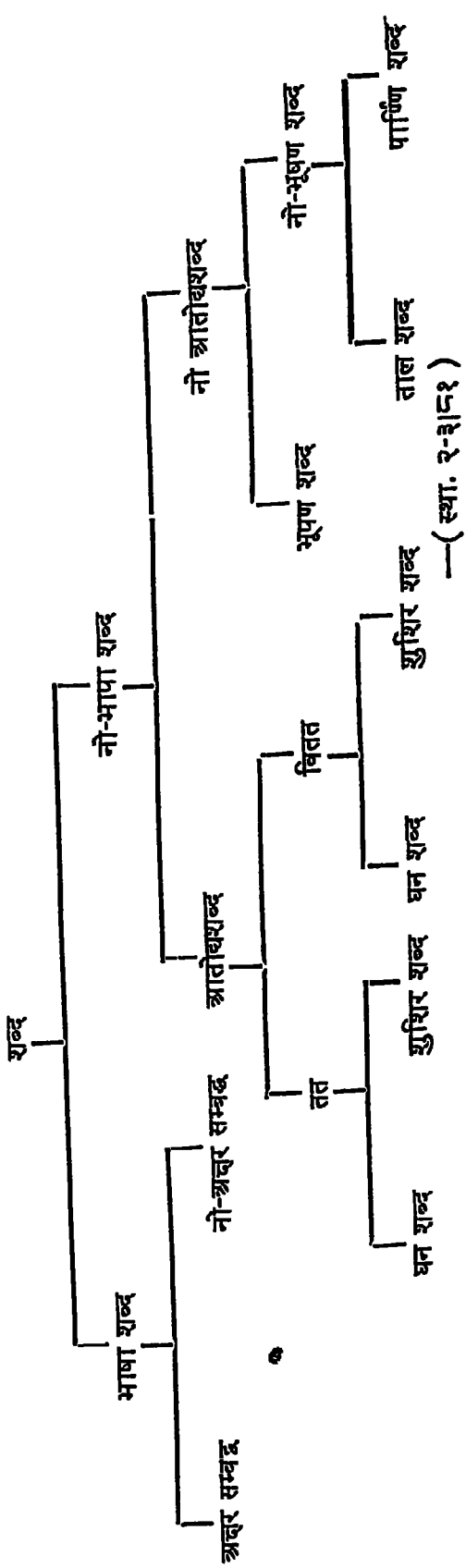
—(स्था. २-३।८१)

शब्द की अर्थ बोधकता

शब्द अर्थ का बोधक बनता है, इसके दो हेतु हैं (१) स्वाभाविक (२) समय या संकेत [१३]। नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार नहीं करते। वे केवल संकेत को ही अर्थज्ञान का हेतु मानते हैं [१४]। इस पर जैन-दृष्टि यह है कि यदि शब्द में अर्थ बोधक शक्ति सहज नही होती तो उसमें संकेत भी नही किया जा सकता। संकेत रुढ़ि है, वह व्यापक नहीं। "अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द"—यह मान्यता है। देश-काल के भेद से यह अनेक भेद वाली होती है। एक देश में एक शब्द का अर्थ कुछ ही होता है और दूसरे देश में कुछ ही। हमें इस संकेत या मान्यता के आधार पर दृष्टि डालनी चाहिए। संकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति। शब्द अर्थ को बता सकता है, किसको बताए, यह बात संकेत पर निर्भर है। संकेत ज्ञातकालीन और अज्ञातकालीन दोनों प्रकार के होते हैं। अर्थ की अनेकता के कारण शब्द के अनेक रूप बनते हैं, जैसे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, क्रियावाचक आदि-आदि।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नही होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथंचित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में।

वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति तर्क के द्वारा होती है [१५]। एक आदमी ने अपने सेवक से कहा—'रोटी लाओ'। सेवक रोटी लाया। एक तीसरा व्यक्ति जो रोटी को नही जानता, वह दोनों की प्रवृत्ति देख कर जान जाता है कि यह वस्तु 'रोटी' शब्द के द्वारा वाच्य है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—"वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाव वाली

होती है। "जहाँ वाच्य-वाचक भाव नहीं होता, वहाँ शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति नही होती।"

शब्द का याथार्थ्य और अयाथार्थ्य

शब्द पौद्गलिक होता है। वह अपने आप में यथार्थ या अयथार्थ कुछ भी नही होता। वक्ता के द्वारा उसका यथार्थ या अयथार्थ प्रयोग होता है। यथार्थ प्रयोग के स्याद्वाद और नय—ये दो प्रकार हैं। दुर्णय इसलिए आगमाभास होता है कि वह यथार्थ-प्रयोग नही होता।

वचन की सत्यता के दो पहलू हैं, प्रयोगकालीन और अर्थग्रहणकालीन। एक वक्ता पर निर्भर है, दूसरा श्रोता पर। वक्ता यथार्थ-प्रयोग करता है, वह सत्य है। श्रोता यथार्थ ग्रहण करता है, वह सत्य है। ये दोनों सत्य अपेक्षा से जुडे हुए हैं।

सत्य वचन की दस अपेक्षाएं

सत्य वचन के लिए दस अपेक्षाएं हैं[१६] :—

(१) जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।

(२) सम्मत या रूढि-सत्य।

(३) स्थापना की अपेक्षा सत्य।

(४) नाम की अपेक्षा सत्य।

(५) रूप की अपेक्षा सत्य।

(६) प्रतीत्य-सत्य—दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।

जैसे—कनिष्ठा की अपेक्षा अनामिका बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। एक ही वस्तु छोटी और बड़ी दोनों हो; यह विरुद्ध बात है, ऐसा आरोप आता है किन्तु यह ठीक नहीं[१७]। एक ही वस्तु का छोटापन और मोटापन दोनो तात्त्विक हैं और परस्पर विरुद्ध भी नही हैं। इसलिए नही हैं कि दोनो के निमित्त दो है। यदि अनामिका को एक ही कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा छोटी-बड़ी कहा जाय तब विरोध आता है किन्तु "छोटी की अपेक्षा बड़ी और बड़ी की अपेक्षा छोटी" इसमें कोई विरोध नही आता (एक निमित्त से परस्पर विरोधी दो कार्य नही हो सकते किन्तु दो निमित्त से वैसे दो कार्य होने में कोई आपत्ति नहीं।) छोटापन और मोटापन तात्त्विक नहीं है; ऋजुता

और वक्रता की भाँति दूसरे निमित्त की अपेक्षा रखे बिना प्रतीत नही होती। इसलिए उनकी प्रतीति दूसरे की अपेक्षा से होती है, इसलिए वे काल्पनिक हैं, ऐसी शंका होती है पर समझने पर बात ऐसी नही है। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं[१८]—

(१) परप्रतीति-सापेक्ष—सहकारी द्वारा व्यक्त।

(२) परप्रतीति-निरपेक्ष—स्वतः व्यक्त।

अस्तित्व आदि गुण स्वतः व्यक्त होते हैं। छोटा, बड़ा आदि धर्म सहकारी द्वारा व्यक्त होते हैं। गुलाब में सुरभि अपने आप व्यक्त है। पृथ्वी मे गन्ध पानी के संयोग से व्यक्त होती है।

छोटा, बडा—ये धर्म काल्पनिक हो तो एक वस्तु में दूसरी वस्तु के समावेश की (बड़ी वस्तु में छोटी के समाने की) बात अनहोनी होती। इसलिए हमें मानना चाहिए कि सहकारी व्यंग धर्म काल्पनिक नही है[१९]। वस्तु में अनन्त परिणतियो की क्षमता होती है। जैसा जैसा सहकारी का सन्निधान होता है वैसा ही उसका रूप बन जाता है। "कोई व्यक्ति निकट से लम्बा और वही दूर से ठिंगना दीखता है, पर वह लम्बा और ठिंगना एक साथ नहीं हो सकता। अतः लम्बा व ठिंगना केवल मनस् के विचार मात्र हैं।" बर्कले का यह मत उचित नही है। लम्बा और ठिंगना ये केवल मनस् के विचार मात्र होते तो दूरी और सामीप्य सापेक्ष नही होते। उक्त दोनो धर्म सापेक्ष हैं—एक व्यक्ति जैसे लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा ठिंगना और ठिंगने की अपेक्षा लम्बा हो सकता है; वैसे ही एक ही व्यक्ति दूरी की अपेक्षा ठिंगना और सामीप्य की अपेक्षा लम्बा हो सकता है। लम्बाई और ठिंगनापन एक साथ नही होते, भिन्न-भिन्न सहकारियो द्वारा भिन्न-भिन्न काल में अभिव्यक्त होते हैं। सामीप्य की अपेक्षा लम्बाई सत्य है और दूरी की अपेक्षा ठिंगनापन।

(७) व्यवहारसत्य—औपचारिक सत्य—पर्वत जल रहा है।

(८) भावसत्य—व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से सत्य—दूध सफेद है।

(९) योगसत्य—सम्बन्ध सत्य।

(१०) औपम्य-सत्य।

प्रत्येक वस्तु को अच्छी-बुरी, उपयोगी-अनुपयोगी, हितकर-अहितकर जो कहा जाता है वह देश, काल, स्थिति की अपेक्षा से सत्य है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"सत्यवादी के लिए विभज्यवाद का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है [२०]।" वे स्वयं इसी मार्ग पर चले। आत्मा, लोक आदि प्रश्नों पर मौन नहीं रहे। उन्होंने इन प्रश्नों को महात्मा बुद्ध की भाँति अव्याकृत न कहा और न संजय-वेलट्ठी पुत्त की भाँति बीच में लटकाए रखा। उन्होंने सत्य के अनेक रूपों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया। लोक में जितने द्रव्य हैं उतने ही थे और रहेंगे [२१]। उनमें न अणु मात्र कम होता है और न अधिक। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश केवल अवस्था-परिवर्तन है। जो स्थिति आत्मा की है, वही एक परमाणु या पौद्गलिक-स्कंध या शरीर की है। आत्मा एकान्त नित्य नहीं है, शरीर एकान्त अनित्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का परिवर्तन होता रहता है। पहला रूप जन्म या उत्पाद और दूसरा रूप मृत्यु या विनाश है। अव्युच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त है। अविच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुएं सदा अपने रूप में रहती हैं, अनन्त हैं [२२]। प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि है, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि [२३]। लोक व्यक्ति-संख्या की दृष्टि से एक है, इसलिए सान्त है। लोक की लम्बाई-चौड़ाई असंख्य-योजन कोड़ाकोड़ी है, इस क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है [२४]।

इस प्रकार एक वस्तु की अनेक स्थिति-जन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होने वाले मतवाद एक सूत्र में पिरो दिये, तात्त्विक चर्चा के निर्णय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भगवान् से पूछा गया—"भगवन्! जीव परभव को जाते समय स इन्द्रिय जाता है या अन् इन्द्रिय?"

भगवान्—"स-इन्द्रिय भी जाता है और अन् इन्द्रिय भी।"

गौतम—"कैसे? भगवन्!"

भगवान्—"ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय और पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा अन्-इन्द्रिय।"

पौद्गलिक इन्द्रियां स्थूल शरीर से और ज्ञान इन्द्रियां आत्मा से सम्बद्ध होती हैं। स्थूल शरीर छूटने पर पौद्गलिक इन्द्रियां नहीं रहतीं, उनकी अपेक्षा

परभवगामी जीव अन्-इन्द्रिय जाता है। ज्ञान शक्ति आत्मा में बनी रहती है, इस दृष्टि से वह स-इन्द्रिय जाता है [२५]।

गौतम—"भगवन्! दुःख आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत?"

भगवान्—"दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं है, उभयकृत नहीं [२६]।"

महात्मा बुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनो को सत्य नही मानते थे। उनसे पूछा गया—

"भगवन् गौतम! क्या दुःख स्वयकृत है[२७]?"

"काश्यप! ऐसा नहीं है।"

"क्या दुःख परकृत है?"

"नही।"

"क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?"

"नहीं।"

"क्या अस्वकृत अपरकृत दुःख है?"

"नही।"

"तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों?

"दुःख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जो करता है, वही भोगता है, यह शाश्वतवाद है। दुःख परकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि दुःख करने वाला कोई दूसरा है और उसे भोगने वाला कोई दूसरा, यह उच्छेदवाद है?" उनने इन दोनो को छोड़कर मध्यम मार्ग—प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में "उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नही, किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्व का कुल संस्कार उत्तर को मिल जाता है। अतएव पूर्व अब उत्तर रूप मे अस्तित्व मे हैं। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नही, अभिन्न भी नही किन्तु अव्याकृत है, क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है"[२८]। महात्मा बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य नही थे, अतएव ऐसे प्रश्नों का उन्होंने अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

भगवान् महावीर भी शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध थे। इस विषय मे दोनो की भूमिका एक थी फिर भी भगवान् महावीर ने कहा—"दुःख आत्मकृत है।" कारण कि वे इन दोनो वादो से दूर भागने वाले नहीं थे। उनकी अनेकान्तदृष्टि मे एकान्तशाश्वत या उच्छेद जैमी कोई वस्तु थी ही नहीं। दुःख के करण और भोग में जैसे आत्मा की एकता है वैसे ही करणकाल में और भोगकाल में उसकी अनेकता है। आत्मा की जो अवस्था करणकाल मे होती है, वही भोगकाल में नहीं होती, यह उच्छेद है। करण और भोग दोनो एक आधार मे होते हैं, यह शाश्वत है। शाश्वत और उच्छेद के भिन्न-भिन्न रूप कर जो विकल्प पद्धति से निरूपण किया जाता है, वही विभज्यवाद है।

इस विकल्प-पद्धति के समर्थक अनेक संवाद उपलब्ध होते हैं। एक सवाद देखिए[२९]—

सोमिल—"भगवन्! क्या आप एक हैं या दो? अक्षय, अव्यय, अवस्थित हैं या अनेक भूत भव्य-भविक?"

भगवान्—"सोमिल! मैं एक भी हूँ और दो भी।"

सोमिल—"यह कैसे भगवन्!?"

भगवान्—"द्रव्य की दृष्टि से एक हूँ; सोमिल! ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो।"

"आत्म-प्रदेश की दृष्टि से मै अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूँ और भूत-भावी काल मे विविध विषयो पर होने वाले उपयोग (चेतना-व्यापार) की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हूँ।"

यह शकित भाषा नही है। तत्त्व-निरूपण मे उन्होने निश्चित भाषा का प्रयोग किया और शिष्यो को भी ऐसा ही उपदेश दिया। छद्मस्थ मनुष्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर रहित जीव आदि को सर्वभाव से नही जान सकते[३०]।

अतीत, वर्तमान, या भविष्य की जिस स्थिति की निश्चित जानकारी न हो तब 'ऐसे ही है' यूं निश्चित भाषा नहीं बोलनी चाहिए और यदि असदिग्ध जानकारी हो तो 'एवमेव' कहना चाहिए[३१]। केवल भावी कार्य के बारे में

निश्चयपूर्वक नहीं बोलना चाहिए। न मालूम जो काम करने का संकल्प है, वह अधूरा रह जाय। इसलिए भावी कार्य के लिए 'अमुक कार्य करने का विचार है' या 'यह होना सम्भव है'—यह भाषा होनी चाहिए। यह कार्य से सम्बन्धित सत्यभाषा की मीमांसा है, तत्त्व-निरूपण से इसका सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर अपेक्षापूर्वक निश्चय भाषा बोलने में कोई आपत्ति नहीं है[३२]।

महात्मा बुद्ध ने कहा :—

(१) मेरी आत्मा है।

(२) मेरी आत्मा नही है।

(३) मैं आत्मा को आत्मा समझता हूँ।

(४) मैं अनात्मा को आत्मा समझता हूँ।

(५) यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोगी है।

(६) यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामिधर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी[३३]।

इन छह दृष्टियो में फंसकर अज्ञानी जीव जरा-मरण से मुक्त नहीं होता इसलिए साधक को इनमें फंसना उचित नहीं। उनके विचारानुसार—"मै भूत काल में क्या था ? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊंगा ? मैं क्या हूँ ? यह सत्त्व कहाँ से आया ? यह कहाँ जाएगा ?—इस प्रकार का चिन्तन 'अयोनिसो मनसिकार' विचार का अयोग्य ढग है। इससे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते है।"

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत था। उन्होने कहा—

(१) आत्मा नहीं है।

(२) आत्मा नित्य नहीं है।

(३) आत्मा कर्म की कर्ता नहीं है।

(४) आत्मा कर्म-फल की भोक्ता नही है।

(५) निर्वाण नहीं है।

(६) निर्वाण का उपाय नहीं है।

—ये छह मिथ्यात्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

(१) आत्मा है।

(२) आत्मा नित्य है।

(३) आत्मा कर्म की कर्ता है।

(४) आत्मा कर्म की भोक्ता है।

(५) निर्वाण है।

(६) निर्वाण के उपाय हैं।

—ये छह सम्यकत्व की प्ररूपणा के स्थान हैं [३४]।

"कई व्यक्ति यह नही जानते—'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? जो अपने आप या पर—व्याकरण से यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है [३५]।

इस दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने तत्त्व-चिन्तन की पृष्ठभूमि पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—"जो जीव को नही जानता, अजीव को नही जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता; वह संयम को कैसे जान सकेगा [३६]?" "जिसे जीव-अजीव, त्रस-स्थावर का ज्ञान नही, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हैं और जिसे इनका ज्ञान है, उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हैं [३७]।" यही कारण है कि भगवान् महावीर की परम्परा में तत्त्व-चिन्तन की अनेक धाराएं अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में वही।

आत्मा, कर्म, गति, आगति, भाव, अपर्याप्त, पर्याप्त आदि के बारे में ऐसा मौलिक चिन्तन है, जो जेन दर्शन की स्वतन्त्रता का स्वयम्भू प्रमाण है।

जैन दर्शन में प्रतिपादन की पद्धति में अव्याकृत का स्थान है—वस्तु मात्र कथंचित् अवक्तव्य है। तत्त्व-चिन्तन में कोई वस्तु अव्याकृत नहीं। उपनिषद् के ऋषि परमब्रह्म को मुख्यतया 'नेति-नेति' द्वारा बताते हैं [३८]। वेदान्त में वह अनिर्वचनीय है। 'नेति नेति' से अभाव की शंका न आए, इसलिए ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। तात्पर्य में वह अनिर्वचनीय ही है कारण कि वह वाणी का विषय नही बनता [३९]।

वौद्ध दर्शन में लोक शाश्वत है या अशाश्वत? सान्त है या अनन्त?

जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न ? मृत्यु के बाद तथागत होते हैं या नहीं होते ?—होते भी हैं, नही भी होते, न होते हैं, न नहीं भी होते हैं [४०]?—इन प्रश्नो को अव्याकृत कहा है। बौद्ध दर्शन का यह निषेधक दृष्टिकोण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, दोनों का अस्वीकार है। इसमें जैन-दृष्टि का मतद्वैध नहीं है किन्तु वह इससे आगे बढ़ती है। भगवान् महावीर ने शाश्वत और उच्छेद दोनों का समन्वय कर विधायक दृष्टिकोण सामने रखा। वही अनेकान्त-दर्शन और स्याद्वाद है।

प्रमाण-समन्वय

उपमान[४१] :—

सादृश्य प्रत्यभिज्ञा जैन न्याय का उपमान है

अर्थापत्ति[४२] :—

अनुमान में जैसे साध्य-साधन का निश्चित अविनाभाव होता है, वैसे ही अर्थापत्ति में भी होता है। पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता—इसका अर्थ यह आया कि वह रात को अवश्य खाता है। इसके साध्य देवदत्त के रात्रि-भोजन के साथ 'पुष्टत्व' साधन का निश्चित अविनाभाव है। इसलिए यह अनुमान से भिन्न नही है कोरा कथन-भेद है।

अभाव[४३] :—

अभाव प्रमाण दो विरोधियों में से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध करने वाला है। केवल भूतल देखने से घट का ज्ञान नही होता। भूतल में घट, पट आदि अनेक वस्तुओ का अभाव हो सकता है, इसलिए घट-रिक्त भूतल में घट के अभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसका स्मरण करने पर ही अभाव के द्वारा भूतल मे घटाभाव जाना जा सकता है।

जैन-दृष्टि से—(१) 'वह अ घट भूतल है'—इसका समावेश स्मरण मे, (२) 'यह वही अघट भूतल है'—इसका प्रत्यभिज्ञा मे, (३) 'जो अग्निमान् नहीं होता, वह धूमवान् नहीं होता'—इसका तर्क में, (४) 'इस भूतल में घट नही है, क्योंकि यहाँ घट का जो स्वभाव मिलना चाहिए, वह नही मिल

रहा है'—इसका अनुमान में, तथा (५) 'सोहन घर पर नहीं है'—इसका आगम में समावेश हो जाता है [४४]।

सामान्य अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। कोई भी वस्तु केवल सद्रूप या केवल असद्रूप नहीं है। वस्तु मात्र सत्-असत्-रूप (उभयात्मक) है। प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे सद्भाव का ज्ञान होता है, वैसे असद्भाव का भी [४५]। कारण स्पष्ट है। ये दोनों इतने घुलेमिले हैं कि किसी एक को छोड़कर दूसरे को जाना नहीं जा सकता।

एक वस्तु के भाव से दूसरी का अभाव और एक के अभाव से दूसरी का भाव निश्चित चिह्न के मिलने या न मिलने पर निर्भर है।

स्वस्तिक चिह्न वाली पुस्तक के लिए जैसे स्वस्तिक उपलब्धि-हेतु बनता है, वैसे ही अचिन्हित पुस्तक के लिए चिन्हाभाव अनुपलब्धि-हेतु बनता है, इसलिए यह अनुमान की परिधि से बाहर नहीं जाता।

सम्भव[४६] :—

अविनाभावी अर्थ—जिसके बिना दूसरा न हो सके, वैसे अर्थ की सत्ता ग्रहण करने से दूसरे अर्थ की सत्ता बतलाना 'सम्भव' है। इसमें निश्चित अविनाभाव है—पौर्वापर्य, साहचर्य या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसलिए यह भी अनुमान-परिवार का ही एक सदस्य है।

ऐतिह्य[४७] :—

प्रवाद-परम्परा का आदि-स्थान न मिले, वह ऐतिह्य है। जो प्रवाद-परम्परा अयथार्थ होती है, वह अप्रमाण है और जिस प्रवाद-परम्परा का आदि-स्रोत आप्त पुरुष की वाणी मिले, वह आगम से अतिरिक्त नहीं है।

प्रातिभ :—

प्रातिभ के बारे में जैनाचार्यों में दो विचार परम्पराएं मिलती हैं। वादिदेव सूरि आदि जो न्याय प्रधान रहे, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष और अनुमान में समावेश किया और हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जो न्याय के साथ-साथ योग के क्षेत्र में भी चले, उन्होंने इसे प्रत्यक्ष और श्रुत के बीच का माना।

पहली परम्परा के अनुसार इन्द्रिय, हेतु और शब्द-व्यापार निरपेक्ष जो

स्पष्ट आत्म-प्रतिभान होता है, वह मानस-प्रत्यक्ष में चला जाता है।

प्रसाद और उद्वेग के निश्चित लिङ्ग से जो प्रिय-अप्रिय फल प्राप्ति का प्रतिभान होता है, वह अनुमान की श्रेणी में है [४८]।

दूसरी परम्परा—प्रातिभ ज्ञान न केवल ज्ञान है, न श्रुतज्ञान और न ज्ञानान्तर [४९]। इसकी दशा ठीक अरुणोदय-संध्या जैसी है। अरुणोदय न दिन है, न रात और न दिन-रात से अतिरिक्त है। यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम-निरावरण दशा या योग-शक्ति से उत्पन्न होता है।

प्रातिभ ज्ञान विवेक-जनित ज्ञान का पूर्व रूप है। सूर्योदय से कुछ पूर्व प्रकट होने वाली सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा योगी सब बातों को जान लेता है [५०]।

समन्वय

वस्तुतः जैन ज्ञान-मीमांसा के अनुसार प्रातिभ ज्ञान अश्रुत-निश्रित मति ज्ञान का एक प्रकार है, जिसका नाम है—"औत्पत्तिकी बुद्धि।" सूत्र कृतांग (१।१३) में आए हुए 'पडिहाणव' प्रतिभावान् का अर्थ वृत्तिकार ने औत्पत्तिकी बुद्धि किया है। नन्दी में उसके निम्न लक्षण बतलाए हैं—'पहले अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात अर्थ का तत्काल बुद्धि के उत्पादकाल में अपने आप सम्यग निर्णय हो जाता है और उसका परिच्छेद्य अर्थ के साथ अबाधित योग होता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है [५१]।

मति ज्ञान के दो भेद होते हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुत निश्रित [५२]। श्रुत निश्रित के अवग्रह आदि चार भेद व्यावहारिक प्रत्यक्ष में चले जाते हैं[५३] और स्मृति आदि चार भेद परोक्ष में [५४]। अश्रुत निश्रित मति के चार भेद औत्पत्तिकी आदि बुद्धिचतुष्टय का समावेश किसी प्रमाण के अन्तर्गत किया हुआ नहीं मिलता।

जिनभद्रगणि ने बुद्धि चतुष्टय में भी अवग्रह आदि की योजना की है[५५], परन्तु उसका सम्बन्ध मति ज्ञान के २८ भेद विषयक चर्चा से है [५६]। अश्रुत निश्रित मति को किस प्रमाण में समाविष्ट करना चाहिए, यह वहाँ मुख्य चर्चनीय नहीं है।

औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय में अवग्रह आदि होते हैं, फिर भी यह व्यवहार प्रत्यक्ष से पूर्ण समता नहीं रखता। इसमें पदार्थ का इन्द्रिय से

साक्षात् होता है, इसमें नहीं। वह शास्त्रोपदेशजनित संस्कार होता है और यह आत्मा की सहज स्फुरणा। इसलिए यह केवल और श्रुत के बीच का ही होना चाहिए तथा इसका प्रातिभ के साथ पूर्ण सामंजस्य दीखता है। इसे केवल और श्रुत के बीच का ज्ञान इसलिए मानना चाहिए कि इससे न तो समस्त द्रव्य पर्यायों का ज्ञान होता है और न यह इन्द्रिय लिंग आदि की सहायता तथा शास्त्राभ्यास आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है। पहली परम्परा के प्रातिभज्ञान के लक्षण इससे भिन्न नहीं हैं। मानस-प्रत्यक्ष इसी का नामान्तर हो सकता है और जो निश्चित लिङ्ग के द्वारा होने वाला प्रातिभ कहा गया है, वह वास्तव में अनुमान है। जो उसे प्रातिभ मानते हैं, उनकी अपेक्षा उसे प्रातिभ कहकर उसे अनुमान के अन्तर्गत किया गया है।

प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद

प्रमाता आत्मा है, वस्तु है। प्रमाण निर्णायक ज्ञान है, आत्मा का गुण है। प्रमेय आत्मा भी है और आत्म-अतिरिक्त पदार्थ भी। प्रमिति प्रमाण का फल है।

गुणी से गुण न अत्यन्त भिन्न होता है और न अत्यन्त अभिन्न किन्तु दोनों भिन्नाभिन्न होते हैं। प्रमाण प्रमाता में ही होता है, इस दृष्टि से इनमें कथंचिद् अभेद है। कर्ता और करण के रूप में ये भिन्न हैं—प्रमाता कर्ता है और प्रमाण करण। अभेद-कक्षा में ज्ञाता और ज्ञान का साधन—ये दोनों आत्मा या जीव कहलाते हैं। भेद कक्षा में आत्मा ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान जानने का साधन [५७]। ज्ञान आत्मा ही है, आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञान-व्यतिरिक्त भी—इस दृष्टि से भी प्रमाता और प्रमाण में भेद है[५८]।

प्रमाता व प्रमेय का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है, प्रमेय चेतन और अचेतन दोनों होते हैं, इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल में जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञान-काल में प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाण साधन है और फल साध्य—इस दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। प्रमाण और फल इन दोनो का अधिकरण एक ही प्रमाता होता है। प्रमाण रूप में परिणत आत्मा ही फल रूप में परिणत होती है—इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं [५९]।

"न चाऽसियावायं वियागरेज्जा"......सू० १-१४-१६

अ स्याद्वाद पद्धति से नही बोलना चाहिए।

"विभज्जवायं च वियागरेज्जा".... .सू० १-१३

विभज्यवाद की पद्धति से बोलना चाहिए।

"सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते"

—न्याया० द-३०

"आर्द्रकुमार ने कहा—गोशालक। जो श्रमण और ब्राह्मण (उन्हीं) के दर्शन के अनुसार चलने से मुक्ति होगी, दूसरे दर्शनो के अनुसार चलने से मुक्ति नही होगी—यूं कहते हैं—इस एकान्त दृष्टि की मैं निन्दा करता हूँ। मैं किसी व्यक्ति की निन्दा नही करता [1]।"

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली अनेकान्त-दृष्टि है और प्रतिपादन की शैली स्याद्वाद। जानना ज्ञान का काम है, बोलना वाणी का (ज्ञान की शक्ति अपरिमित हैं, वाणी की परिमित।) ज्ञेय, अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नही, इसलिए नही कि एक क्षण में अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयो को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नहीं सकता।

एक तत्त्व—(परमार्थ सत्य) अभिन्न अनन्त सत्यों की समष्टि होता है। एक शब्द एक क्षण में एक सत्य को बता सकता है। इसलिए कहा है—"वस्तु के दो रूप होते हैं :—

(१) अनभिलाप्य—अवाच्य

(२) अभिलाप्य—वाच्य

अनभिलाप्य (अप्रज्ञापनीय) का अनन्तवा भाग अभिलाप्य, अभिलाप्य का अनन्त वा भाग सूत्र-ग्रथित आगम होता है [2]।

प्रज्ञापनीय भावो का निरूपण वाग्-योग के द्वारा होता है [3]। वह श्रोता के भाव-श्रुत का कारण बनता है। इसलिए द्रव्यश्रुत (ज्ञान का साधन) होता है। यहाँ एक समस्या बनती है—हम जानें कुछ और ही और कहे कुछ

और ही अथवा सुनें कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है ?

इसका उत्तर जैनाचार्य स्यात् शब्द के द्वारा देते हैं। 'मनुष्य स्यात् है'—इस शब्दावलि में सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्ति-धर्म' मात्र नहीं है। उसमें 'नास्ति-धर्म' भी है। स्यात्-शब्द यह बताता है कि अभिव्यक्त सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप में सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। प्रमेय का यथार्थग्राही ज्ञान सत्य और अयथार्थग्राही ज्ञान असत्य होता है। जैसे प्रमेय-सापेक्षज्ञान सत्य या असत्य बनता है, वैसे ही वचन भी प्रमेय-सापेक्ष होकर सत्य या असत्य बनता है। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। इस स्थिति को सम्भालने वाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसीलिए इसे प्रमाण वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश और सकलादेश

वस्तु-प्रधान ज्ञान सकलादेश और गुण-प्रधान ज्ञान विकलादेश होता है। इसके सम्बन्ध में तीन मान्यताएं हैं। पहली के अनुसार सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सकलादेश और विकलादेश दोनो होता है [४]।

दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक भंग विकलादेश होता है और सम्मिलित सातो भंग सकलादेश कहलाते हैं।

तीसरी मान्यता के अनुसार पहला, दूसरा और चौथा भंग विकलादेश और शेष सब सकलादेश होते हैं [५]।

द्रव्य-नय की मुख्यता और पर्याय-नय की अमुख्यता से गुणों की अभेदवृत्ति बनती है। उससे स्याद्वाद सकलादेश या प्रमाणवाक्य बनता है।

^ पर्याय-नय की मुख्यता और द्रव्य-नय की अमुख्यता से गुणो की भेदवृत्ति वनती है। उससे स्याद्वाद-विकलादेश या नय-वाक्य वनता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। अनन्त धर्म वाली वस्तु के अखण्ड रूप का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश होता है। वाक्य में यह शक्ति अभेद-वृत्ति की मुख्यता और अभेद का उपचार—इन दो कारणो से आती है। अनन्त धर्मों को अभिन्न वनाने वाले ८ कारण हैं—

(१) काल	(५) उपकार
(२) आत्म-रूप	(६) गुणी-देश
(३) अर्थ-आधार	(७) संसर्ग
(४) सम्वन्ध	(८) शब्द

वस्तु और गुण-धर्मों के सम्वन्ध की जानकारी के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

हम वस्तु के अनन्त गुणो को एक-एक कर वताए और फिर उन्हे एक धागे मे पिरोएं, यह हमारा अनन्त जीवन हो तव वनने की वात है। विखेरने के वाद समेटने की वात ठीक वैठती नहीं, इसलिए एक ऐसा द्वार खोलें या एक ऐसी प्रकाश-रेखा डालें, जिसमें से या जिसके द्वारा समूची वस्तु दीख जाय। यह युक्ति हमें भगवान् महावीर ने सुझाई। वह है, उनकी वाणी में 'सिय' शब्द। उसी का संस्कृत अनुवाद होता है 'स्यात्'। कोई एक धर्म 'स्यात्' से जुड़ता है और वह वाकी के सव धर्मों को अपने में मिला लेता है। 'स्यात् जीव है'— यहाँ हम 'है' इसके द्वारा जीव की अस्तिता वताते हैं और 'है' स्यात् से जुड़कर आया है, इसलिए यह अखण्ड रूप में नही, किन्तु अखण्ड वनकर आया है। एक धर्म में अनेक धर्मों की अभिन्नता वास्तविक नही होती, इसलिए यह अभेद एक धर्म की मुख्यता या उपचार से होता है।

(१) जिस समय वस्तु में 'ह' है, उस समय अन्य धर्म भी हैं, इसलिए काल की दृष्टि से 'है' और वाकी के सव धर्म अभिन्न हैं।

(२) 'है' धर्म जैसे वस्तु का आत्मरूप है, वैसे अन्य धर्म भी उसके आत्मरूप हैं। इस आत्मरूप की दृष्टि से प्रतिपाद्य धर्म का अप्रतिपाद्य धर्मों से अभेद है।

(३) जो अर्थ 'है' का आधार है, वही अन्य धर्मों का है। जिसमें एक है, उसीमें सब हैं—इस अर्थ-दृष्टि या आधार भूत द्रव्य की दृष्टि से सब धर्म एक हैं—समानाधिकरण हैं।

(४) वस्तु के साथ 'है' का जो अविष्वग्भाव या अपृथग्भाव सम्बन्ध है, वही अन्य धर्मों का है—इस तादात्म्य सम्बन्ध की दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

(५) जैसे वस्तु के स्वरूप-निर्माण में 'है' अपना योग देता है, वैसे ही दूसरे धर्मों का भी उसके स्वरूप-निर्माण में योग है। इस योग या उपचार की दृष्टि से भी सब मे अभेद है। पके हुए आम मे मिठास और पीलेपन का उपचार भिन्न नही होता। यही स्थिति शेष सब धर्मों की है।

(६) जो वस्तु सम्बन्धी क्षेत्र 'है' का होता है, वही अन्य धर्मों का होता है—इस गुणी-देश की दृष्टि से भी सब धर्मों मे भेद नही है। उदाहरण स्वरूप आम के जिस भाग में मिठास है, उसीमे पीलापन है। इस प्रकार वस्तु के देश—भाग की दृष्टि से वे दोनो एक रूप हैं।

(७) वस्त्वात्मा का 'है' के साथ जो संसर्ग होता है, वही अन्य धर्मों के साथ होता है—इस संसर्ग की दृष्टि से भी सब धर्म भिन्न नही हैं। आम का मिठास के साथ होने वाला सम्बन्ध उसके पीलेपन के साथ होने वाले सम्बन्ध से भिन्न नही होता। इसलिए वे दोनो अभिन्न हैं। धर्म और धर्मी भिन्ना-भिन्न होते हैं। अविष्वग्भाव सम्बन्ध मे अभेद प्रधान होता है और भेद गौण।

(८) जो 'है' शब्द अस्तित्व धर्म वाली वस्तु का वाचक है, वह शेष अनन्त धर्म वाली वस्तु का भी वाचक है—इस शब्द-दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

काल आदि की दृष्टि से भिन्न धर्मों का अभेद-उपचार

(१) समकाल एक में अनेक गुण हों, यह सम्भव नहीं, यदि हों तो उनका आश्रय भिन्न होगा।

(२) अनेक विध गुणो का आत्मरूप एक हो, यह सम्भव नही, यदि हो तो उन गुणों में भेद नही माना जाएगा।

(३) अनेक गुणों के आश्रयभूत अर्थ अनेक होंगे, यह न हो तो एक अनेक गुणों का आश्रय कैसे बने ?

(४) अनेक सम्बन्धियों का एक के साथ सम्बन्ध नही हो सकता।

(५) अनेक गुणो के उपकार अनेक होंगे—एक नही हो सकता।

(६) गुणी का क्षेत्र—प्रत्येक भाग प्रतिगुण के लिए भिन्न होना चाहिए नहीं तो दूसरे गुणी के गुणों का भी इस गुणी-देश से भेद नहीं हो सकेगा।

(७) संसर्ग प्रतिसंसर्गी का भिन्न होगा।

(८) प्रत्येक विषय के शब्द पृथक् होंगे। सब गुणों को एक शब्द बता सके तो सब अर्थ एक शब्द के वाच्य बन जाएंगे और दूसरे शब्दों का कोई अर्थ नही होगा।

स्याद्वाद के बारे में जैन-दृष्टि (भ्रान्त दृष्टिकोण और उसकी समीक्षा)

'मूलं नास्ति कुतः शाखा'—कवि ने इसे असम्भव बताया है। स्याद्वाद की जैन-व्याख्या पढ़ने के बाद आप कुछ जैनेतर विद्वानों की व्याख्या पढ़ें, आपको मालूम होगा कि मूल के बिना भी शाखा होती है।

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रति रूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन-दर्शन में इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में भी होता है। स्याद्वाद अर्थात्—अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नीव है अपेक्षा। अपेक्षा वहाँ होती है, जहाँ वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहाँ होता है, जहाँ निश्चय होता है। दोनो संशयशील हो, उस दशा में विरोध का क्या रूप बने ?

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ-ग्रहण के लिए अनेकान्त-दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधि-धर्मयुगलों का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप से सत् है, उसी रूप से असत् नही है। स्वरूप की दृष्टि से

सत् है और पर रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयरूप हो ही नही सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नो का समाधान किया है, जिसे आगम युग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग में उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नहीं बदला। परिव्राजक स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने बताया— एक जीव—

द्रव्य दृष्टि से सान्त है,
क्षेत्र दृष्टि से सान्त है,
काल दृष्टि से अनन्त है,
भाव दृष्टि से अनन्त है [१]।

इसमें द्रव्य-दृष्टि के द्वारा जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निर्देश किया गया है। योजना करते-करते जीव अत्यन्त बनते हैं, किन्तु अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से जीव एक-एक हैं—सान्त हैं।

दूसरी बात—अनन्त गुणों के समुदय से एक गुणी बनता है। गुणों से गुणी अभिन्न होता है। इसलिए अनन्त गुण होने पर भी गुणी अनन्त नही होता, एक या सान्त होता है। जीव असंख्य प्रदेश वाला है या आकाश के असंख्य प्रदेशो में अवगाह पाता है, इसलिए क्षेत्र-दृष्टि से भी वह अनन्त नहीं है, सर्वत्र व्याप्त नहीं है। काल-दृष्टि से अनन्त है। वह सदा था, है और रहेगा। ज्ञान, दर्शन और अगुरुलघु पर्यायों की दृष्टि से अनन्त हैं। भगवान् महावीर की उत्तर-पद्धति मे ये चार दृष्टियां मिलती हैं, वैसे ही अर्पित-अनर्पित दृष्टि या व्याख्या पद्धति और मिलती है, जिसके द्वारा स्याद्वाद विरोध मिटाने में समर्थ होता है [७]। जमाली को उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा— "जीव शाश्वत है वह कभी भी नही था, नही है और नही होगा—ऐसा नहीं होता।" वह था, है और होगा, इसलिए वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। जीव अशाश्वत है—वह नैरयिक होकर तिर्यञ्च हो

हो जाता है, तिर्यञ्च होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव। यह अवस्था-चक्र बदलता रहता है। इस दृष्टि से जीव अशाश्वत है। विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होने के उपरान्त भी उसकी जीवरूपता नष्ट नहीं होती। इस दृष्टि से वह शाश्वत है। इस प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय—ये दो दृष्टियां हैं। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में वे स्पष्ट रूप में मिलती हैं :—

गौतम! जीव स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत [८]।

ये दोनो धर्म वस्तु मे प्रतिपल सम स्थितिक रहते हैं, किन्तु अर्पित मुख्य और अनर्पित गौण होता है। "जीव शाश्वत है"—इसमें शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण। "जीव अशाश्वत है" इसमें अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण। यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नहीं होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह अर्पितानर्पित व्याख्या है। पदार्थ का नियम न शाश्वतवाद है और न उच्छेदवाद। ये दोनो उसके सतत—सहचारी धर्म हैं। भगवान् महावीर ने इन दोनों समन्वित धर्मो के आधार पर अन्य जातीयवाद (जात्यन्तर-वाद) की देशना दी। उन्होंने कहा—"पदार्थ न शाश्वत है और न अशाश्वत, वह स्यात् शाश्वत है—अव्युच्छित्तिनय की दृष्टि से और स्यात् अशाश्वत है—व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से। वह उभयात्मक है, फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य दृष्टि) से शाश्वत है उससे शाश्वत ही है और जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है उस दृष्टि से अशाश्वत ही है, जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है उसी दृष्टि से शाश्वत नही है। एक ही पदार्थ एक ही काल में शाश्वत और अशाश्वत इस विरोधी धर्मयुगल का आधार है, इसलिए वह अनेकधर्मात्मक है। ऐसे अनन्तविरोधी-धर्मयुगलो का वह आधार है, इसलिए अनन्तधर्मात्मक है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसलिए वाह्य भी है—विसदृश भी है, अवाह्य भी है, सदृश भी है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विसदृश होता है, इसलिए कि उनके सब गुण समान नही होते। वे दोनों सदृश भी होते हैं—इसलिए कि

उनके अनेकों गुण समान भी होते हैं। चेतन गुण की दृष्टि से जीव अचेतन पुद्गल से भिन्न है तो अस्तित्व या प्रमेय गुण की अपेक्षा वह पुद्गल से अभिन्न भी है [९]। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। किन्तु भिन्नाभिन्न है। विशेषगुण की दृष्टि से भिन्न है और सामान्य गुण की दृष्टि से अभिन्न [१०]। भगवती सूत्र हमें बताता है—"जीव पुद्गल भी है और पुद्गली भी है" [११]। शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है [१२]। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है, सचित्त भी है और अचित्त भी [१३]।

जीव की पुद्गल संज्ञा है, इसलिए वह पुद्गल है। पौद्गलिक इन्द्रिय सहित है, पुद्गल का उपभोक्ता है, इसलिए पुद्गली है अथवा जीव और पुद्गल में निमित्त नैमित्तिक भाव है (संसारी दशा में जीव के निमित्त से पुदगल की परिणति होती है और पुद्गल के निमित से जीव की परिणति होती है) इसलिए पुद्गली है। शरीर आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का साधन बनता है, इसलिए वह उससे अभिन्न है। आत्मा चेतन है, काय अचेतन है, वह पुनर्भवी है काय एकभवी है—इसलिए दोनों भिन्न हैं। स्थूल शरीर (औदारिक-शरीर) की अपेक्षा वह रूपी है और सूक्ष्मशरीर (कार्मण शरीर) की अपेक्षा वह अरूपी है।

शरीर आत्मा से कथंचित् अपृथक् भी है, इस दृष्टि से जीवित शरीर चेतन है। वह पृथक् भी है इस दृष्टि से अचित्त है। मृतशरीर भी अचित्त है। रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नहीं है और स्यात् अवक्तव्य है [१४]। वस्तु स्व-दृष्टि से है, पर-दृष्टि से नहीं है, इसीलिए वह सत्-असत् उभयरूप है। एक काल मे एक धर्म की अपेक्षा वस्तु वक्तव्य है और एक काल में अनेक धर्मों की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसलिए वह वक्तव्य-अवक्तव्य उभयरूप है। यहाँ भी सन्देह नही है—जिस रूप मे सत् है, उस रूप में सत् ही है और जिस रूप में असत् है, उस रूप में असत् ही है। वक्तव्य-अवक्तव्य का भी यही रूप बनता है।

इस आगम-पद्धति के आधार पर दार्शनिक युग में स्याद्वाद का रूप-चतुष्टय बना:—

१—वस्तु स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है।

२—वस्तु स्यात् सामान्य है, स्यात् विशेष है।

३—वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है।

४—वस्तु स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है।

उक्त चर्चा में कहीं भी "स्यात्" शब्द संदेह के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। फिर भी शांकरभाष्य से लेकर आज तक के आलोचक साहित्य में स्याद्वाद को अनिर्धारित रूप ज्ञान या संशयवाद कहा गया है।

शंकराचार्य की युक्ति के अनुसार —"स्याद्वाद की पद्धति से जैन सम्मत सात पदार्थों की संख्या और स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता [१५]। वे वैसे ही हैं या वैसे नहीं हैं, यह निश्चय हुए बिना उनकी, प्रामाणिकता चली जाती है।"

आज के परिवर्तित युग में यह आलोचना मूल-स्पर्शी नहीं मानी जाती, तब कई व्यक्ति एक नई दिशा सुझाते हैं। जैसा कि डा० एस० के० वेलवालकर एम० ए०, पी० एच० डी० ने लिखा है—शंकराचार्य ने अपनी व्याख्या में पुरातन जैन-दृष्टि का प्रतिपादन किया है, और इसलिए उनका प्रतिपादन जान बूझकर मिथ्याप्ररूपण नहीं कहा जा सकता। जैनधर्म का जैनेतर साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख बादरायण के वेदान्त सूत्र में मिलता है, जिस पर शंकराचार्य की टीका है। हमें इस बात को स्वीकार करने में कोई कारण नजर नहीं आता कि जैनधर्म की पुरातन बात को यह द्योतित करता है। यह बात जैनधर्म की सबसे दुर्बल और सदोष रही है। हाँ, आगामी काल में स्याद्वाद का दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचकों के समक्ष है और अब उस पर विशेष विचार करने की किसी को आवश्यकता प्रतीत नहीं होती[१६]।

(समीक्षा) अगर हमारा झुकाव व्यक्तिवाद की ओर नहीं है तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि शंकराचार्य ने स्याद्वाद का जिस रूप में खण्डन किया है, उसका वह रूप जैन दर्शन में कभी भी नहीं रहा है। बादरायण के "नैकस्मिन्नसम्भवात्" सूत्र में जैन दर्शन द्वारा एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों के स्वीकार की बात मिलती है, संशय की नहीं। फिर भी शंकराचार्य ने स्याद्वाद का संशयवाद की भित्ति पर निराकरण किया, वह

जैन दर्शन की मान्य दृष्टि को हृदयंगम किये विना किया—यह कहते हुए हमारी तटस्थ बुद्धि मे कोई कम्पन नहीं होता।

इस परम्परा के उपजीवी विद्वान् डा० देवराज आज फिर एक वार उसकी पुनरावृत्ति चाहते हैं। वे लिखते हैं—"स्यादवाद का वाच्यार्थ है शायद-वाद।" "अंग्रेजी में इसे प्रोवेविलिज्म (Probabilism) कह सकते हैं। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्वाद संदेहवाद का भाई है। वास्तव मे जैनियों को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नो पर मौन धारण करना था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नही देती [१७]"

(समीक्षा)…महात्मा बुद्ध की भाति भगवान् महावीर के तात्विक प्रश्नो पर मौन रखने की सम्मति देते हुए भी विद्वान् लेखक यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के आत्मा आदि विषयक सिद्धान्त निश्चित हैं। उन्हे आपत्ति इस पर है—एक ओर निश्चित सिद्धान्त और दूसरी ओर स्याद्वाद—वे इन दोनो को एक साथ देखना नही चाहते। यह ठीक भी है। निश्चित सिद्धान्त के लिए अनिश्चयवाद की दुहाई शोभा नहीं देती। किन्तु जैन-दृष्टि ऐसी नहीं है। वह पदार्थ के अनेक विरोधी धर्मों को निश्चित किन्तु अनेक बिन्दुओ द्वारा ग्रहण करती है। आश्चर्य की वात यह है कि आलोचक विद्वान् स्याद्वाद की अनेक-विरोधी-धर्म-ग्राहक स्थिति देखते हैं, वैसे उसकी निश्चित अपेक्षा को नही देखते। यदि दोनो पहलू सम दृष्टि से देखे जाते तो स्याद्वाद को संशयवाद कहने का मौका ही नही मिलता। विद्वान् लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तक—"पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" में स्यात का अर्थ कदाचित् किया है [१८]। इसमे कोई संदेह नही—"स्यात्" का अर्थ संशय भी होता है और "कदाचित्" भी। किन्तु 'स्याद्वाद', जो अनेकान्त दृष्टि का प्रतिनिधि है, में 'स्यात्' को कथंचित् या अपेक्षा के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथंचित्वाद या अपेक्षावाद। आलोचकों की दृष्टि स्याद्वाद मे प्रयुक्त 'स्यात्' का संशय और कदाचित् अर्थ करने की ओर दौड़ती है तो कथंचित् और अपेक्षा की ओर क्यों नही दौड़ती?

अपेक्षा-दृष्टि से विरोध होना एक बात है और अपेक्षा-दृष्टि को संशय-दृष्टि या कदाचित् दृष्टि दिखाकर विरोध करना दूसरी बात।

हाँ, जैन-आगम मे कदाचित् के अर्थ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है[११]। किन्तु वह स्याद्वाद नहीं; उसकी संज्ञा 'भजना' है। भजना 'नियम' की प्रतिपक्षी है। दो धर्मों या धर्मों का साहचर्य निश्चित होता है, वह नियम है। और वह कभी होता है, कभी नही होता—यह भजना है।

व्याप्य के होने पर व्यापक के, कार्य होने पर कारण के, उत्तरवर्ती होने पर पूर्ववर्ती के और सहभावी रूप मे एक के होने पर दूसरे के होने का नियम होता है। व्यापक में व्याप्य की, कारण मे कार्य की, पूर्ववर्ती मे उत्तरवर्ती की और संयोग की भजना (विकल्प) होती है। इसलिए स्याद्वाद संशय और भजना (कदाचित्वाद) दोनो से पृथक् है। इनकी आकृति-रचना भी एक सी नही है। देखिए निम्नवर्ती यन्त्र :—

१—भजना—

अग्नि कदाचित् सधूम होती है
अग्नि कदाचित् निर्धूम होती है } निष्कर्ष—अमुक संयोग दशा में सधूम, अन्यथा निर्धूम,

२—संशय—

पदार्थ नित्य है
या
पदार्थ अनित्य है } निष्कर्ष—कुछ पता नहीं।

३—स्याद्वाद—

पदार्थ नित्य भी है
पदार्थ अनित्य भी है } निष्कर्ष—पदार्थ नित्यानित्य है।

भजना अनेको की एकत्र स्थिति या अ-स्थिति बताती है। इसलिए भजना साहचर्य का विकल्प है।

संशय एक-रूप पदार्थ मे अनेक रूपो की कल्पना करता है। संशय अनिर्णायक विकल्प है।

स्याद्वाद अनेक धर्मात्मक पदार्थों मे अनेक धर्मों की निश्चित स्थिति बताता है। स्याद्वाद निर्णायक विकल्प है।

भजना कलापेक्ष है, जैसे—वह वहाँ कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं

होता। संशय दोषपूर्ण सामग्री-सापेक्ष है। पदार्थ का स्वरूप निश्चित होता है। किन्तु दोषपूर्ण सामग्री से आत्मा का संशय ज्ञान अनिश्चित बन जाता है। स्याद्वाद पदार्थगत और ज्ञानगत उभय है। पदार्थ का स्वरूप भी अनेकान्तात्मक है और हमारे ज्ञान मे भी वह अनेकान्तात्मक प्रतिभासित होता है।

डा० बलदेव उपाध्याय ने स्याद्वाद को संशयवाद का रूपान्तर नही माना है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन उन्हे अनेक अंशो में त्रुटिपूर्ण लगता है। वे लिखते हैं—"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश मे त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु-विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओ के एकीकरण का श्लाध्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जाएगा। यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थो के विभिन्न रूपो का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान मे रख कर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२-२-३३) मे प्रबल युक्तियो के सहारे किया है[२०]।

(समीक्षा)...स्याद्वाद का एकीकरण वेदान्त के दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल नहीं, इसीलिए वह उपाध्यायजी को त्रुटिपूर्ण लगता हो तब तो दूसरी बात है अन्यथा हमे कहना होगा कि स्याद्वाद में वह त्रुटि नही जो दिखाई गई है। अनेकान्त दृष्टि को पर-सग्रह की दृष्टि से 'विश्वमेकम्' तक का एकीकरण मान्य है। किन्तु यही दृष्टि सर्वतोभद्र सत्य है, यह बात मान्य नहीं है। महा सत्ता की दृष्टि से सब का एकीकरण हो सकता है, सब दृष्टियो से नही। चैतन्य की दृष्टि से चेतन और अचेतन की मूल सत्ता एक नहीं हो सकती। यदि अचेतन का उपादान या मूल स्रोत चेतन बन सकता है तब 'अचेतन चेतन का उपादान या आदि स्रोत बनता है' यह भूतवादी धारणा असम्भव नही मानी जा सकती।

अनेकान्त के अनुसार एक परम तत्त्व ही परमार्थ सत्य नहीं है। चेतन-अचेतन द्वयात्मक जगत् परमार्थ सत्य है।

विद्वान् लेखक ने अनेकान्त को आपाततः उपादेय और मनोरंजक बताते हुए मूलभूत तत्त्व का स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ बताया है और इसी कारण वह परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व-विचार को "कतिपय क्षण के लिए विलम्ब तथा विराम देने वाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" ऐसा माना जाता है [२१]।

(समीक्षा)...अनेकान्त दृष्टि—"कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तु समर्थ ईश्वर:" नहीं है, जो कि मूलभूत तत्त्व बना डाले। वह यथार्थ वस्तु को यथार्थतया जानने वाली दृष्टि है। वस्तुवृत्त्या मूलभूत तत्त्व ही दो हैं। यदि अचेतन तत्त्व चेतन की भांति मूल तत्त्व नहीं होता—परमब्रह्म की ही माया या रूपान्तर होता तो अनेकान्तवाद को वहाँ तक पहुंचने में कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु बात ऐसी नहीं है, तब अनेकान्त दृष्टि सर्व दृष्टि से परम तत्त्व की एकात्मक सत्ता कैसे स्वीकार करे?

डा० देवराज ने स्याद्वाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से किये गए एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनों में सामञ्जस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे स्थापित की जाय, यह जैन दर्शन नहीं बतलाता। प्रत्येक सत् पदार्थ में ध्रुवता या स्थिरता रहती है, और प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद और व्यय वाला अथवा परिवर्तनशील है, इन दो तथ्यों पर जैन दर्शन अलग-अलग और समान गौरव देता है। क्या इन दोनों सत्यों को किसी प्रकार एक करके, एक सामञ्जस्य के रूप में नहीं देखा जा सकता। तत्व मीमांसा (Ontology) में ही नहीं सत्य-मीमांसा (Theory of Truth) में भी जैन दर्शन अनेकवादी है। विशिष्ट सत्य एक सामान्य सत्य के अंश या अंग नहीं हैं। परमाणुओं की भांति उनका भी अलग-अलग अस्तित्व है। सत्य एक नहीं अनेक हैं, यहीं पर संगतिवाद और अनेकान्तवाद में भेद है। अनेक सत्यवादी होने के कारण ही जैन दर्शन सापेक्ष सत्यों से निरपेक्ष सत्य तक पहुंचने का रास्ता नहीं बना पाता। वह यह मानता प्रतीत होता है कि पूर्ण सत्य अपूर्ण सत्यों का योगमात्र है, उनकी समष्टि (system) नहीं [२२]।"

(समीक्षा)...जैन दर्शन ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय को पृथक्-पृथक् सत्य नही मानता। सत्य के दो रूप नहीं हैं। पदार्थ की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता ही सत्य है। यह दो सत्यों का योग नही, किन्तु एक ही सत्य के अनेक अभिन्न रूप हैं। तात्पर्य यह है कि न भेद सत्य है और न अभेद सत्य है—भेदाभेद सत्य है। द्रव्य के विना पर्याय नही मिलते, पर्याय के विना द्रव्य नहीं मिलता, जात्यन्तर मिलता है—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ मिलता है, इसलिए भेद-अन्वित अभेद भी सत्य है और अभेद-अन्वित भेद भी सत्य है। एक शब्द मे भेदाभेद सत्य है [२३]।

सत्य की मीमांसा में पूर्ण या अपूर्ण यह भेद नही होता। यह भेद हमारी प्रतिपादन पद्धति का है। सत्य स्वरूप-दृष्टि से अविभाज्य है। ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय तथा उत्पाद-व्यय से ध्रौव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। अनन्त धर्मों की एकरूपता नही, इस दृष्टि से कथंचित् विभाज्य भी है। इसी स्थिति के कारण वह शब्द या वर्णन का विषय बनता है। यही सापेक्ष सत्यता है। पदार्थ निरपेक्ष सत्य है। उसके लिए सापेक्ष सत्यता की कोई कल्पना नही की जा सकती। सापेक्ष सत्यता, एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों की स्थिति से हमारे ज्ञान में जो विरोध की छाया पड़ती है उसको मिटाने के लिए है। जैन दर्शन जितना अनेकवादी है, उतना ही एकवादी है। वह सर्वथा एकवादी या अनेकवादी नही है। वेदान्त जैसे व्यवहार में अनेकवादी और परमार्थ मे एकवादी है, वैसे जैन एक या अकनेवादी नही है। जैन दृष्टि के अनुसार एकता और अनेकता दोनो वास्तविक हैं। अनन्त धर्मों की अपृथक्-भाव सत्ता समन्वित सत्य है। यह सत्य की एकता है। ऐसे सत्य अनन्त हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। वे किसी एक सामान्य सत्य के अंश या प्रतिबिम्ब नहीं हैं। वेदान्त की विश्व-विषयक कल्पना की जैन की एक-पदार्थ-विषयक कल्पना से तुलना होती है। दूसरे शब्दो मे यों कहना चाहिए कि जैन दर्शन एक पदार्थ के बारे मे वैसे एकवादी है जैसे वेदान्त विश्व के बारे मे। अनन्त सत्यों का समीकरण या वर्गीकरण एक में या दो मे किया जा सकता है, किन्तु वे एक नहीं किये जा सकते। अस्तित्व (है) की दृष्टि से समूचा विश्व एक और स्वरूप की दृष्टि से समूचा विश्व दो (चेतन, अचेतन) रूप है। यह निश्चित

है कि अनन्त पदार्थों में व्यक्तिगत एकता न होने पर भी विशेष-गुणगत समानता और सामान्य-गुणगत एकता है। अनन्त चेतन व्यक्तियो में चैतन्य गुण-कृत समानता और अनन्त अचेतन व्यक्तियो में अचेतन गुण-कृत समानता है। वस्तुत्व गुण की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनो एक हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है—न सर्वथा अभिन्न है। सर्वथा अभिन्न नहीं है, इसलिए पदार्थों की नानात्मक सत्ता है और सर्वथा भिन्न नही है, इसलिए एकात्मक सत्ता है। विशेष गुण की दृष्टि से पदार्थ निरपेक्ष है। सामान्य गुण की दृष्टि से पदार्थ सापेक्ष है। पदार्थों की एकता और अनेकता स्वय सिद्ध या सांयोगिक है, इसलिए वह सदा रही है और रहेगी। इसलिए हमारा वैसा ज्ञान कभी सत्य नही हो सकता, जो अनेक को अवास्तविक मानकर एक को वास्तविक माने अथवा एक को अवास्तविक मानकर अनेक को वास्तविक माने।

जैन दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य—'जे एग जाणइ, से सव्वं जाणइ' जो एक को जानता है वह सबको जानता है, अद्वैत का बहुत बड़ा पोषक है[२४]। किन्तु यह अद्वैत ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व गुण की दृष्टि से है। जो ज्ञान एक ज्ञेय की अनन्त पर्यायों को जानता है, वह ज्ञेय मात्र को जानता है। जो एक ज्ञेय को सर्वरूप से नहीं जानता, वह सब ज्ञेयों को भी नहीं जानता। यही बात एक प्राचीन श्लोक बताता है—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।"

एक को जान लेने पर सबको जान लेने की बात अथवा सबको जान लेने पर एक को जान लेने की बात सर्वथा अद्वैत में तात्विक नहीं है। कारण कि उसमें एक ही तात्विक है, सब तात्विक नहीं। अनेकान्त-सम्मत ज्ञेय-दृष्टि से जो अद्वैत है, उसीमें—"एक और सब दोनो तात्विक हैं, इसलिए जो एक को जानता है, वही सबको और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है"—इसका पूर्ण सामञ्जस्य है।

तर्क-शास्त्र के लेखक गुलाबराय एम० ए० ने स्याद्वाद को अनिश्चय-मूल मानकर एक काल्पनिक भय की रेखा खींची है। जैसे—"जैनों के

अनेकान्तवाद में एक प्रकार से मनुष्य की दृष्टि को विस्तृत कर दिया है, किन्तु व्यवहार में हमको निश्चयता के आधार पर ही चलना पड़ता है। यदि हम पैर बढ़ाने से पूर्व पृथ्वी की दृढ़ता के "स्यादस्ति स्यान्नास्ति" के फेर में पड़ जांय तो चलना ही कठिन हो जाएगा[२५]।"

(समीक्षा)...लेखक ने सही लिखा है। अनिश्चय-दशा में वैसा ही बनता है। किन्तु विद्वान् लेखक को यह आशंका स्याद्वाद को संशयवाद समझने के कारण हुई है। इसलिए स्याद्वाद का सही रूप जानने के साथ-साथ यह अपने आप मिट जाती है—"शायद घड़ा है, शायद घड़ा नहीं है"—इससे दृष्टि का विस्तार नहीं होता प्रत्युत जानने वाला कुछ जान ही नहीं पाता। दृष्टि का विस्तार तब होता है, जब हम अनन्त दृष्टिबिन्दु-ग्राह्य सत्य को एकदृष्टिग्राह्य ही न मानें। सत्य की एक रेखा को भी हम निश्चय-पूर्वक न माप सकें, यह दृष्टि का विस्तार नहीं, उसकी बुराई है।

डा० सर् राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद को अर्धसत्य बताते हुए लिखा है—"स्याद्वाद हमें अर्ध सत्यों के पास लाकर पटक देता है। निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्यों का योग पूर्ण सत्य नहीं हो सकता[२६]"।

(समीक्षा)...इस पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्याद्वाद पूर्णसत्य को देश काल की परिधि से मिथ्यारूप बनने से बचाने वाला है। सत् की अनन्त पर्यायें हैं, वे अनन्तसत्य हैं। वे विभक्त नहीं होतीं, इसलिए सत् अनन्त सत्यों का योग नहीं होता, किन्तु उन (अनन्त सत्यों) की विरोधात्मक सत्ता को मिटाने वाला होता है। दूसरी बात अनिश्चित सत्य स्याद्वाद को छूते ही नहीं। स्याद्वाद प्रमाण की कोटि में है। अनिश्चय अप्रमाण है। यह सही है—पूर्ण सत्य शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसीलिए "स्यात्" को संकेत बनाना पड़ा। स्याद्वाद निरुपचरित अखण्ड सत्य को कहने का दावा नहीं करता। वह हमें सापेक्ष सत्य की दिशा में ले जाता है।

राहुलजी स्याद्वाद को संजय के विक्षेपवाद का अनुकरण बताते हुए लिखते हैं—"आधुनिक जैन दर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है, संजय वेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है, संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ

भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इन्कार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार कहा है—

(१) है.........नही कह सकता।

(२) नहीं है......नहीं कह सकता।

(३) है भी और नहीं भी...नहीं कह सकता।

(४) न है और न नहीं है...नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनो के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

(१) है............ ......हो सकता है (स्याद्-अस्ति)

(२) नहीं है............नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

(३) है भी और नहीं भी...हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।

(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (वक्तव्य) हैं?

इसका उत्तर जैन "नही" मे देते हैं—

(४) "स्याद्" (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है? नही "स्याद्" अवक्तव्य है।

(५) "स्याद् अस्ति" क्या यह वक्तव्य है? नहीं, "स्याद् अस्ति" अवक्तव्य है।

(६) "स्याद् नास्ति" क्या यह वक्तव्य है? नही, "स्याद् नास्ति" अवक्तव्य है।

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च"—क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्याद् अस्ति च नास्ति च" अवक्तव्य है।

दोनो के मिलाने से मालूम होगा कि जैनो ने संजय के पहिले वाले तीन वाक्यो (प्रश्न और उत्तर दोनो) को अलग-अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियां बनाई और उसके चौथे वाक्य "न है और न नही है" को छोड़ कर "स्याद्" भी वक्तव्य है, यह सातवां भंग तैयार कर अपनी सप्तभगी पूरी की।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग—परलोक, देवता, कर्म-फल, मुक्त पुरुष जैसे परोक्ष विषयो पर करता था। जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं पर भी लागू करते हैं। उदाहर-

णार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे मे जैन दर्शन से यदि प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्नप्रकार मिलेगा—

(१) घट यहाँ है ?—हो सकता है। (स्याद् अस्ति)

(२) घट यहाँ नही है ?—नही भी हो सकता है। (स्यान्नास्ति)

(३) क्या यहाँ घट है भी और नहीं भी है ?—है भी और नही भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)

(४) हो सकता है (स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नहीं, "स्याद्" यह अवक्तव्य है।

(५) "घट यहाँ हो सकता है" (स्याद् अस्ति) यह कहा जा सकता है ? नही, "घट यहाँ हो सकता है", यह नहीं कहा जा सकता।

(६) "घट यहाँ नहीं हो सकता" (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नही, घट यहाँ नही हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता।

(७) "घट यहाँ हो भी सकता है, नही भी हो सकता है"—क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ हो भी सकता है, नही भी हो सकता है, यह नही कहा जा सकता—

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि सजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियो के लुप्त हो जाने पर जैनो ने अपना लिया और उसकी चतुर्भङ्गी न्याय को सप्तभंगी मे परिणत कर दिया [२७]।

(समीक्षा)...यह गड्डुरी-प्रवाह क्यो चला और क्यो चलता जा रहा है पता नही। सजय के अनिश्चयवाद का स्याद्वाद से कोई वास्ता तक नही, फिर भी पिसा आटा बार-बार पिसा जा रहा है। संजय का वाद न सद्भाव बताता है और न असद्भाव [२८]। अनेकान्त, विधि और प्रतिषेध दोनो का निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करता है। अनेकान्त सिर्फ अनेकान्त ही नहीं, वह एकान्त भी है। प्रमाण-दृष्टि को मुख्य मानने पर अनेकान्त फलता है और नय दृष्टि को मुख्य मानने पर एकान्त [२९]। एकान्त भी स्याद्वाद के अंकुश से परे नही हो सकता। एकान्त असत्-एकान्त न बन जाय—"यह भी है" को छोड़कर 'यही है' का रूप न ले ले, इसलिए वह जरूरी भी है।

भगवान् महावीर का युग दर्शन-प्रणयन का युग था। आत्मा, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष है या नहीं? इन प्रश्नों की गूंज थी। सामान्य विषय भी जीखोल कर चर्चे जाते थे। प्रत्येक दर्शन-प्रणेता की अपने-अपने ढंग की उत्तर-शैली थी। महात्मा बुद्ध मध्यम प्रतिपदावाद या विभज्यवाद के द्वारा समझाते थे। संजयवेलट्ठीपुत्त विक्षेपवाद या अनिश्चयवाद की भाषा में बोलते। भगवान् महावीर का प्रतिपादन स्यादवाद के सहारे होता। इन्हे एक दूसरे का वीज मानना आग्रह से अधिक और कुछ नही लगता।

संजय की उत्तर-प्रणाली को अनेकान्तवादी कहना अनेकान्तवाद के प्रति घोर अन्याय है। भगवान् महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि मैं समझता होऊं कि अमुक है तो आपको वतलाऊं। वे निर्णय की भाषा में बोलते। उनके अनेकान्त मे अनन्त धर्मों को परखने वाली अनन्त दृष्टियां और अनन्त वाणी के विकल्प हैं। किन्तु याद रखिए, वे सब निर्णायक हैं। संजय के भ्रम-वाद की भांति लोगों को भूलभुलैया मे डालने वाले नहीं हैं। अनन्त धर्मों के लिए अनन्त दृष्टिकोणो और कुछ भी निर्णय न करने वाले दृष्टिकोणो को एक कोटि मे रखने का आग्रह धूप छांह को मिलाने जैसा है। इसे "हां और "नहीं" का भेद नही कहा जा सकता। यह मौलिक भेद है। 'अस्तीति न भणामि'—'है' नही कह सकता और "नास्तीति च न भणामि"—"नहीं है" नहीं कह सकता। संजय की इस संशयशीलता के विरुद्ध अनेकान्त कहता है— "स्यात् अस्ति"—अमुक अपेक्षा से यह है ही, "स्यात् नास्ति"—अमुक अपेक्षा से यह नहीं ही है।

'घट यहाँ हो सकता है'—यह स्यादवाद की उत्तर-पद्धति नहीं है। उसके अनुसार 'घट है—अपनी अपेक्षा से निश्चित है' यह रूप होगा।

अहिंसा-विकास में अनेकान्त दृष्टि का योग

जैन धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखो के सामने आ जाती है। अहिंसा की आर्थात्मा जैन शब्द के साथ इस प्रकार घुली मिली हुई है कि इनका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोक-भाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसा को आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं

मिलता, जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्म के साथ अहिंसा का ऐसा तादात्म्य क्यों? यहाँ विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धारणाएं मिलती हैं। स्थूल रूप में सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हों, वैसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त-दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है, जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्‌भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांशों का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं, उतनी ही आकांक्षाएं हैं। जितनी आकांक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस

अवस्था में था ? उसके आस-पास की परिस्थितियां कैसी थी ? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था ? विवक्षा में किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिए चलता था ? उसकी अन्य निरूपण-पद्धतियां कैसी थीं ? तत्कालीन सामयिक स्थितियां कैसी थीं ? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य के तराजू में तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एक मात्र साधन है शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ भी नही है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आपमें सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसीके सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है।

इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशो को ठुकरा कर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।"

दूसरों के प्रति ही नही किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने की भी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसीका नाम है—बौद्धिक अहिंसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार में भी उतारा। चंडकौशिक सॉप ने भगवान् के डंक मारे तब उनने सोचा—"यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा में मैं इस पर क्रोध कैसे करूँ ?" संगम ने भगवान् को कष्ट दिये, तब उनने सोचा—"यह मोह व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नहीं हूँ, इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नही।"

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तो को समान दृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनकी विश्वमैत्री की अपेक्षा दोनों समकक्ष मित्र थे।

चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता है किन्तु भगवान् की मैत्री की अपेक्षा वह उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है, अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टि से बहुत सरलता से सुलझाये जा सकते हैं, किन्तु कलह का क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक अखाड़े संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टि लक्ष्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाय तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कही भय या द्वैधीभाव बढ़ता है, उसका कारण ऐकान्तिक आग्रह ही है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है, उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को यकायक झँपना नही चाहिए। उसे सोचना चाहिए—"कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती", उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी के लिए अमृत होता है, परिस्थिति के परिवर्तन में जहर जिसके लिए जहर होता है, उसीके लिए अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद पूंजीवाद को बुरा लगता है और पूंजीवाद साम्यवाद को, इसमे ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है[३०]।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

"बाल होकर भी अपने को पंडित मानने वाले व्यक्ति एकान्त पक्ष के आश्रय से उत्पन्न होने वाले कर्मबन्ध को नहीं जानते[३१]"। व्यावहारिक और तात्त्विक सभी जगह अनेकान्त का आश्रयण ही कल्याणकर होता है। एकान्तवाद आग्रह या संक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है। उससे कर्मबन्ध होता है। अहिंसक के कर्मबन्ध नही होता। अनेकान्तदृष्टि मे आग्रह या संक्लेश नही होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना

चाहिए। एकान्तदृष्टि से व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकान्तदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नहीं होता, इसलिए उस का स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानो का वर्णन करते हुए सूत्रकृतांग में बताया है—

(१) पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

(२) शास्ता—तीर्थंकर, उनके शिष्य या भव्य, इनका सर्वथा उच्छेद हो जाएगा—संसार भव्य जीवन शून्य हो जाएगा, या मोक्ष होता ही नहीं—यह मानना अनाचार है। भवस्थ केवली मुक्त होते हैं, इसलिए वे शाश्वत नही हैं और प्रवाह की अपेक्षा केवली सदा रहते हैं, इसलिए शाश्वत भी हैं—यह मानना आचार है।

(३) सब जीव विसदृश ही हैं या सदृश ही हैं—यह मानना अनाचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस में समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

(४) सब जीव कर्म की गांठ से बन्धे हुए ही रहेंगे अथवा सब छूट जाएंगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य, पराक्रम आदि सामग्री पाने वाले मुक्त होंगे भी और नही पाने वाले नहीं भी होंगे—यह मानना आचार है।

(५) छोटे और बड़े जीवों को मारने में पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नहीं होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा में बन्ध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बन्ध की मन्दता, तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

(६) आधाकर्म आहार खाने से मुनि कर्म से लिप्त होते ही हैं या नहीं ही होते—यह मानना अनाचार है। जान बूझकर आधा कर्म आहार खाने से लिप्त होते हैं और शुद्ध नीति से व्यवहार मे शुद्ध जानकर लिया हुआ आधाकर्म आहार खाने से लिप्त नही भी होते—यह मानना आचार है।

(७) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर अभिन्न ही हैं, या भिन्न ही है—यह मानना अनाचार है। इन शरीरों की घटक वर्गणाएं भिन्न हैं, इस दृष्टि से ये भिन्न भी हैं और एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

(८) सर्वत्र वीर्य है, सब सब जगह है, सर्व सर्वात्मक है, कारण में कार्य का सर्वथा सद्भाव है या सब में सबकी शक्ति नहीं है—कारण में कार्य का सर्वथा अभाव है—यह मानना अनाचार है। अस्तित्व आदि सामान्य धर्मों की अपेक्षा पदार्थ एक-सर्वात्मक भी है और कार्य-विशेष गुण आदि की अपेक्षा अ-सर्वात्मक-भिन्न भी है। कारण में कार्य का सद्भाव भी है और असद्भाव भी—यह मानना आचार है।

(९) कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी ही है—यह नहीं कहना चाहिए। एकान्ततः कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नहीं होता।

(१०) जगत् दुःख रूप ही है—यह नहीं कहना चाहिए। मध्यस्थ दृष्टि वाले इस जगत् में परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनों पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्त दृष्टि से किया जाने वाला विचार मानस-संक्लेश या आग्रह का हेतु बनता है। अहिंसा और संक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है—बन्ध और मोक्ष की मीमांसा करना। बन्ध, बन्ध-कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता। अनेकान्तात्मकता के साथ क्रम-अक्रम व्याप्त है। क्रम-अक्रम से अर्थ-क्रिया व्याप्त है। अर्थ-क्रिया से अस्तित्व व्याप्त है।

स्याद्वाद की आलोचना

स्याद्वाद परखा गया और कसौटी पर कसा गया। बहुलांश तार्किकों की दृष्टि में वह सही निकला। कई तार्किकों को उसमें खामियां दीखी, उन्होंने इसलिए उसे दोषपूर्ण बताया। ब्रह्मसूत्रकार व्यास और भाष्यकार शंकराचार्य

से लेकर आज तक स्याद्वाद के बारे मे जो दोष बताए गये है, उनकी संख्या लगभग आठ होती है, जैसे—

(१) विरोध
(२) वैयधिकरण्य
(३) अनवस्था
(४) संकर
(५) व्यतिकर
(६) संशय
(७) अप्रतिपत्ति
(८) अभाव

१—ठंड और गर्मी मे विरोध है, वैसे ही 'है' और 'नही' में विरोध है [३२]। "जो वस्तु है, वही नहीं है"—यह विरोध है।

२—जो वस्तु 'है' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, वही 'नही' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बनने की स्थिति में सामानाधिकरण्य नही हो सकता। भिन्न निमित्तों से प्रवर्तित दो शब्द एक वस्तु में रहे, तब सामानाधिकरण्य होता है [३३]। सत् वस्तु में असत् की प्रवृत्ति का निमित्त नही मिलता, इसलिए सत् और असत् का अधिकरण एक वस्तु नही हो सकती।

३—पदार्थ में सात भग जोड़े जाते हैं, वैसे ही 'अस्ति' भंग मे भी सात भग जोडे जा सकते हैं—अस्ति भंग मे जुडी सप्त-भंगी में अस्ति-भग होगा, उसमे फिर सप्त-भंगी होगी। इस प्रकार सप्त-भगी का कही अन्त न आएगा।

(४) 'है' और 'नही' दोनो एक स्थान मे रहेंगे तो जिस रूप में 'है' है उसी रूप मे 'नहीं' होगा—यह संकर दोष आएगा।

(५) जिस रूप से 'है' है, उसी रूप से 'नही' हो जाएगा और जिस रूप से 'नही' है उसी रूप से 'है' हो जाएगा। विषय अलग-अलग नही रह सकेंगे।

(६,७,८) संशय से पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होगी और प्रतिपत्ति हुए विना पदार्थ का अभाव होगा।

जैन आचार्यों ने इनका उत्तर दिया है। सचमुच स्याद्वाद मे दोष नही आते। यह कल्पना उसका सही रूप न समझने का परिणाम है। इसके पीछे एक तथ्य है। मध्य युग में अजैन विद्वानो को जैन ग्रन्थ पढ़ने में झिझक थी। क्यो थी पता नहीं, पर थी अवश्य। जैन आचार्य खुले दिल से अन्य-दर्शन

के ग्रन्थ पढ़ते थे। अजैन ग्रन्थो पर उन द्वारा लिखी गई टीकाएं इसका स्पष्ट प्रमाण है।

स्याद्‌वाद का निराकरण करते समय पूर्वपक्ष यथार्थ नहीं रखा गया। स्याद्‌वाद मे विरोध तब आता, जब कि एक ही दृष्टि से वह दो धर्मों को स्वीकार करता। पर बात ऐसी नही है। जैन-आगम पर दृष्टि डालिए। भगवान् महावीर से पूछा गया कि—भगवन्! "जीव मर कर दूसरे जन्म मे जाता है, तब शरीर सहित जाता है या शरीर रहित?" भगवान् कहते हैं—"स्यात् शरीर सहित और स्यात् शरीर रहित।" उत्तर में विरोध लगता है पर अपेक्षा दृष्टि के सामने आते ही वह मिट जाता है[३४]।

शरीर दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर मोक्ष-दशा से पहिले नहीं छूटते, इस अपेक्षा से परभव-गामी जीव शरीर सहित जाता है। स्थूल शरीर एक-जन्म-सम्बद्ध होते हैं, इस दृष्टि से वह अ-शरीर जाता है। एक ही प्राणी की स शरीर और अशरीर गति विरोधी बनती है किन्तु अपेक्षा समझने पर वह वैसी नहीं रहती।

विरोध तीन प्रकार के हैं—(१) वध्य-घातक-भाव (२) सहानवस्थान (३) प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव।

पहला विरोध बलवान् और दुर्बल के बीच होता है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म तुल्यहेतुक और तुल्यबली हैं, इसलिए वे एक दूसरे को बाध नही सकते।

दूसरा विरोध वस्तु की क्रमिक पर्यायो मे होता है। बाल्य और यौवन क्रमिक हैं, इसलिए वे एक साथ नही रह सकते। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व क्रमिक नहीं हैं, इसलिए इनमे यह विरोध भी नही आता।

आम डठल से बन्धा रहता है, तब तक गुरु होने पर भी नीचे नही गिरता। इनमे 'प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव' होता है। अस्तित्व-नास्तित्व के प्रयोजन का प्रतिबन्धक नहीं है। अस्ति-काल में ही पर की अपेक्षा नास्ति-बुद्धि और नास्तिकाल में ही स्व की अपेक्षा अस्ति-बुद्धि होती है, इसलिए इनमें प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव भी नही है। अपेक्षा-भेद से इनमें विरोध नहीं रहता।

स्याद्‌वाद विरोध लाता नहीं किन्तु अविरोधी धर्मों में जो विरोध लगता है, उसे मिटाता है [३५]।

(१) जिस रूप से वस्तु सत् है, उसी रूप से वस्तु असत् मानी जाए तो विरोध आता है [३६]। जैन दर्शन यह नहीं मानता। वस्तु को स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् मानता है। शंकराचार्य और भास्कराचार्य ने जो एक ही वस्तु को एक ही रूप से सत्-असत् मानने का विरोध किया है, वह जैन दर्शन पर लागू नहीं होता [३७]।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के संस्कृत कॉलेज के प्रिन्सीपल निखिल विद्या-वारिधि पण्डित अम्बादासजी शास्त्री ने स्याद्‌वाद में दीखने वाले विरोध को आपाततः-सन्देह बताते हुए लिखा है—"यहाँ पर आपाततः प्रत्येक व्यक्ति को यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं और इसी से वेदान्त सूत्र में व्यासजी ने एक स्थान पर लिखा है—'नैकस्मिन्नसम्भवात्'—अर्थात् एक पदार्थ मे परस्पर विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नही रह सकते। परन्तु जैनाचार्यों ने स्याद्‌वाद-सिद्धान्त से इन परस्पर विरोधी धर्मों का एक स्थान में भी रहना सिद्ध किया है। और वह युक्तियुक्त भी है क्योंकि वह विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से एक वस्तु में रहते हैं, न-कि एक ही अपेक्षा से [३८]।"

प्रो॰ फणिभूषण अधिकारी (अध्यक्ष—दर्शन शास्त्र, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय) के शब्दों में—"विद्वान् शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अन्य योग्यता वाले पुरुषो में क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् को सर्वथा अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के, जिसके लिए अनादर से 'विवसन-समय' अर्थात् नग्न लोगो का सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते हैं, दर्शन शास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन की परवाह नहीं की।"

(२) वस्तु के 'सत्' अंश से उसमे 'है' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उसके असत् अंश से उसमें 'नही' शब्द की प्रवृत्ति होने का निमित्त

बनता है। 'है' और 'नहीं' ये दोनो एक ही वस्तु के दो भिन्न धर्मों द्वारा प्रवर्तित होते हैं। इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी स्याद्वाद को नहीं छूता।

(३) किसी वस्तु में अनन्त विकल्प होते हैं, इसीलिए अनवस्था-दोष नही बनता। यह दोष तब बने, जब कि कल्पनाएं अप्रामाणिक हो, सप्तभंगिया प्रमाण-सिद्ध हैं [३९]। इसलिए एक पदार्थ में अनन्त-सप्तभंगी होने पर भी यह दोष नहीं आता। धर्म में धर्म की कल्पना होती ही नहीं। अस्तित्व धर्म है उसमे दूसरे धर्म की कल्पना ही नहीं होती, तब अनवस्था कैसे ?

(४) वस्तु जिस-रूप से 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नहीं है। इसलिए संकर-दोष भी नही आएगा [४०]।

(५) अस्तित्व अस्तित्व रूप मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व रूप मे। किन्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप मे और नास्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत नही होता [४१]। 'है' 'नहीं' नही बनता और 'नहीं' 'है' नही बनता, इसलिए व्यतिकरदोष भी नहीं आने वाला है [४२]।

(६) स्याद्वाद मे अनेक धर्मों का निश्चय रहता है, इसलिए वह संशय भी नही है। प्रो० आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव के शब्दों मे—"महावीर के सिद्धान्त मे बताये गए स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नही मानता। स्याद्वाद संशयवाद नही है किन्तु वह एक दृष्टिबिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए, यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिबिन्दुओ द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण रूप मे आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।"

(७-८) संशय नही तब निश्चित ज्ञान का अभाव—अप्रतिपत्ति नहीं होगी। अप्रतिपत्ति के बिना वस्तु का अभाव भी नही होगा।

त्रिभंगी या सप्तभंगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है [४३]। यह स्वीकार और अस्वीकार दोनों एकाश्रयी होते हैं। वस्तु में 'स्व' की सत्ता की भांति 'पर' की असत्ता नहीं हो तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने

आवश्यक हैं। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं, स्यात् अवक्तव्य है[४४]।" स्व की अपेक्षा आत्मा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा आत्मा-अस्तित्व नहीं है। युगपत् दोनो की अपेक्षा अवक्तव्य है। ये तीन विकल्प हैं, इनके संयोग से चार विकल्प और बनते हैं—

(४) स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति—रत्नप्रभा पृथ्वी स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा नहीं है—यह दो अंशों की क्रमिक विवक्षा है।

(५) स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य—स्व की अपेक्षा है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

(६) स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

(७) स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अंश स्व की अपेक्षा है, एक अंश पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभंगी

सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (१) इसलिए··अस्ति।

असत्त्व ,, ,, ,, ,, (२) इसलिए···नास्ति।

उभय धर्म की ,, से क्रमशः वस्तु का ,, (३) ,, ··अस्ति-नास्ति।

,, ,, ,, ,, ,, युगपत् ,, ,, नहीं हो सकता (४) इसलिए अवक्तव्य।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—'सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (५) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (६) इसलिए—अवक्तव्य-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता के साथ उभय धर्म की प्रधानता से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (७) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति-नास्ति।

सप्तभंगी ही क्यों ?

वस्तु का प्रतिपादन क्रम और यौगपद्य, इन दो पद्धतियों से होता है। वस्तु में 'अस्ति' धर्म भी होता है और 'नास्ति' धर्म भी।

(१-२) 'वस्तु है'—यह अस्ति धर्म का प्रतिपादन है। 'वस्तु नही है'—यह नास्ति धर्म का प्रतिपादन है। यह क्रमिक प्रतिपादन है। अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए युगपत् अनेक धर्म प्रतिपादन की अपेक्षा पदार्थ अवक्तव्य है। यह युगपत् प्रतिपादन है।

(३) क्रम-पद्धति में जैसे एक काल मे एक शब्द से एक गुण के द्वारा समस्त वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है, वैसे एक काल में एक शब्द से दो प्रतियोगी गुणो के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन नही हो सकता, इसलिए युगपत् एक शब्द से समस्त वस्तु के प्रतिपादन की विवक्षा होती है, तब वह अवक्तव्य बन जाती है।

वस्तु-प्रतिपादन के ये मौलिक विकल्प तीन ही हैं। अपुनरुक्त रूप मे इनके चार विकल्प और हो सकते हैं, इसलिए सात विकल्प बनते हैं। बाद के भंगो में पुनरुक्ति आ जाती है। उनसे कोई नया बोध नही मिलता, इसलिए उन्हें प्रमाण में स्थान नही मिलता। इसका फलित रूप यह है कि वस्तु के अनन्त धर्मों पर अनन्त सप्तभंगियां होती हैं किन्तु एक धर्म पर सात से अधिक भंग नही बनते।

(४) अपुनरुक्त-विकल्प—सत् द्रव्यांश होता है और असत् पर्यायांश। द्रव्यांश की अपेक्षा वस्तु सत् है और अभाव रूप पर्यायांश की अपेक्षा वस्तु असत् है। एक साथ दोनो की अपेक्षा अवक्तव्य है। क्रम-विवक्षा में उभयात्मक है।

(५-६-७) अवक्तव्य का सद्भाव की प्रधानता से प्रतिपादन हो तब पांचवां, असद्भाव की प्रधानता से हो तब छठा और क्रमशः दोनो की प्रधानता से हो तब सातवां भंग बनता है।

प्रथम तीन असायोगिक विकल्पो मे विवक्षित धर्मों के द्वारा अखण्ड वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए ये सकलादेशी हैं। शेष चारों का विषय देशावच्छिन्न धर्मी होता है, इसलिए वे विकलादेशी हैं[४५]।

एक विद्यार्थी में योग्यता, अयोग्यता, सक्रियता और निष्क्रियता—ये चार धर्म मान सात भंगों की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमें दो गुण सद्‌भाव रूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी व्यक्ति ने अध्यापक से पूछा—"अमुक विद्यार्थी पढने में कैसा है?"

अध्यापक ने कहा—"बड़ा योग्य है।"

(१) यहाँ पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—"विद्यार्थी नम्रता में कैसा है?"

अध्यापक ने कहा—"बड़ा अयोग्य है।"

(२) यहाँ उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए?

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—"वह पढ़ने में और विनय-व्यवहार में कैसा है?"

अध्यापक ने कहा—"क्या कहे यह बड़ा विचित्र है। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

(३) यह विचार उस समय निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनों एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं। और कभी-कभी यू भी उत्तर होता है "भाई अच्छा ही है, पढने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार में योग्य नही।"

पांचवां उत्तर—"योग्य है फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता।"

छठा उत्तर—"योग्य नहीं है फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता।"

सातवां उत्तर—"योग्य भी है, नहीं भी—अरे क्या पूछते हो बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नही जा सकता।"

उत्तर देने वाले की भिन्न-भिन्न मनः स्थितिया होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनों और कभी क्रमशः। कभी योग्यता का बखान होते-होते

योग्यता-अयोग्यता दोनो प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनो प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनो का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनों पर एक साथ दृष्टि दौड़ने ही "कुछ कहा नहीं जा सकता"—ऐसी वाणी निकल पड़ती है।

जीव की सक्रियता और निष्क्रियता पर स्याद्-अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य का प्रयोग :—

मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। एकान्त निश्चयवादी के अनुसार जीव निष्क्रिय और अजीव सक्रिय है। सांख्य दर्शन की भाषा में पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति सक्रिय है। एकान्त व्यवहारवादी के अनुसार जीव सक्रिय है और अजीव निष्क्रिय। विज्ञान की भाषा में जीव सक्रिय और अजीव निष्क्रिय है। स्याद्वाद की दृष्टि से जीव सक्रिय भी है, निष्क्रिय भी है और अवाच्य भी।

लब्धि वीर्य या शक्ति की अपेक्षा से जीव की निष्क्रियता सत्य है; करण-वीर्य या क्रिया की अपेक्षा से जीव की सक्रियता सत्य है; उभय धर्मों की अपेक्षा से अवक्तव्यता सत्य है।

गुण-समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य के प्रदेशों—अवयवो को क्षेत्र कहते हैं। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार द्रव्य का आधार भी क्षेत्र कहलाता है। द्रव्य के परिणमन को काल कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है, वही उसका काल है। घड़ी, मुहूर्त्त आदि काल व्यावहारिक कल्पना है। द्रव्य के गुण—शक्ति-परिणमन को भाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का द्रव्यादि चतुष्टय भिन्न-भिन्न रहता है, एक जैसे, एक क्षेत्र में रहे हुए, एक साथ बने, एक रूप-रंग वाले सौ घड़ों में सादृश्य हो सकता है, एकता नहीं। एक घड़े के मृत्-परमाणु दूसरे घड़े के मृत्-परमाणुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार अवगाह, परिणमन और गुण भी एक नहीं होते।

वस्तु के प्रत्येक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से अनन्त त्रिभंगियां या सप्तभंगियां होती हैं किन्तु उसके एक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से त्रिभंगी या सप्तभंगी ही होती है [४१]।

वस्तु के विषय सात हैं, इसलिए सात प्रकार के संदेह, सात प्रकार के संदेह हैं इसलिए सात प्रकार की जिज्ञासा, सात प्रकार की जिज्ञासा से सात प्रकार के पर्यनुयोग, सात प्रकार के पर्यनुयोग से सात प्रकार के विकल्प बनते हैं [४७]।

मिथ्या दृष्टि

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

आग्रह सब में होता है किन्तु दूसरे के आग्रह का उचित मूल्य आंक सके, वह आग्रही नहीं होता।

अनेकान्त सम्यग्-दृष्टि है। सापेक्ष एकान्त भी सम्यग्-दृष्टि है। निरपेक्ष एकान्त-दृष्टि मिथ्या-दृष्टि है। दृष्टि प्रमाद या भूल से मिथ्या बनती है। प्रमाद अनेक प्रकार का होता है [४८]। अज्ञान प्रमाद है—अनजान में आदमी बड़े से बड़े अन्याय का समर्थन कर बैठता है। अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में असत्य के प्रति आग्रह नहीं होता फिर भी अज्ञानवश असत्य के प्रति सत्य की श्रद्धा होती है, इसलिए वह मिथ्या-दृष्टि है और इसीलिए अज्ञान को सबसे बड़ा पाप माना गया है।

"अज्ञान क्रोध आदि पापों से बड़ा पाप है और इसलिए है कि उससे ढका हुआ मनुष्य हित-अहित का भेद भी नहीं समझ सकता[४९]।" अज्ञान-दशा में होने वाली भूल भूल नहीं, यह जैन दर्शन नहीं मानता।

मिथ्या ज्ञान से होने वाली भूलें साफ हैं। ज्ञान मिथ्या होगा तो ज्ञेय का यथार्थ बोध नहीं होगा। दर्शन की भाषा में यह विपर्यय या विपरीत ज्ञान है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है, उसे एकान्त समझना विपर्यय है।

संशय भी प्रमाद है। अनिश्चित ज्ञान से वस्तु वैसे नहीं जानी जा सकती जैसे वह है। इसलिए यह भी सम्यग्-दृष्टि बनने में बाधक है। जिज्ञासा और संशय एक नहीं हैं [५०]।

भाषा सम्बन्धी भूलें

एकान्त भाषा, निरपेक्ष एक धर्म को अखण्ड वस्तु कहने वाली भाषा दोषपूर्ण है। निश्चयकारिणी भाषा, जैसे—अमुक काम करूँगा, आगे वह काम

न कर सके, इसलिए यह भी सत्य की बाधक है। आवेश, क्रोध, अभिमान, छल, लोभ-लालच की उग्र दशा में व्यक्ति ठीक-ठीक नहीं सोच पाता, इसलिए ऐसी स्थितियो में अयथार्थ बातें बढ़ाचढ़ाकर या तोड़-मोड़कर कही जाती हैं [५१]।

ईक्षण या दर्शन सम्बन्धी भूले

वस्तु अधिक दूर होती है या अधिक निकट, मन चंचल होता है, वस्तु अति सूक्ष्म होती है अथवा किसी दूसरी चीज से व्यवहृत होती है, दो वस्तुएं मिली हुई होती हैं, क्षेत्र की विषमता होती है, कुहासा होता है, काल की विषमता, स्थिति की विषमता होती है, तब दर्शन का प्रमाद होता है—देखने की भूलें होती हैं [५२]।

आकने की भूले

वस्तु का जो स्वरूप है, जो क्षेत्र है, जो काल और भाव-पर्याये हैं, उन्हे छोड़कर कोरी वस्तु को समझने की चेष्टा होती है, तब वस्तु का स्वरूप आकने मे भूले होती हैं।

कार्य-कारण सम्बन्धी भूले

जो पहले होता है, वही कारण नही होता। कारण वह होता है, जिसके बिना कार्य पैदा न हो सके। पहले होने मात्र से कारण मान लिया जाए अथवा कारण-सामग्री के एकांश को कारण मान लिया जाए अथवा एक बात को अन्य सब बातो का कारण मान लिया जाए—वह कार्य कारण सम्बन्धी भूले होती हैं।

प्रमाण सम्बन्धी भूलें

जितने प्रमाणाभास हैं, वे सब प्रमाण का प्रमाद होने से बनते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष का प्रमाद, परोक्ष का प्रमाद, स्मृति-प्रमाद, प्रत्यभिज्ञा-प्रमाद, तर्क-प्रमाद, अनुमान-प्रमाद, आगम-प्रमाद, व्याप्ति-प्रमाद, हेतु-प्रमाद, लक्षण-प्रमाद।

मानसिक झुकाव सम्बन्धी प्रमाद

क्रम-विकास का सिद्धान्त गलत ही है यह नहीं, यथार्थ ही है, यह भी

नही। फिर भी मानसिक झुकाव के कारण कोई उसे सर्वथा त्रुटिपूर्ण कहता है, कोई सोलह आना सही मानता है।

ऊपर की कुछ पंक्तियां सूत्र-रूप मे है। इनसे हमारी दृष्टि विशाल बनती है। स्याद्वादकी मर्यादा समझने में भी सहारा मिलता है। वस्तु का स्थूल रूप देख हम उसे सही-सही समझ ले, यह बात नहीं। उसके लिए बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। ऊपर के सूत्र सावधानी के सूत्र हैं। वस्तु को समझते समय सावधानी में कमी रहे तो दृष्टि मिथ्या बन जाती है और आगे चल वह हिंसा का रूप ले लेती है और यदि सावधानी बरती जाए—आस-पास के सब पहलुओ पर ठीक-ठीक दृष्टि डाली जाए तो वस्तु का असली रूप समझ में आ-जाता है।

सात

विचार की आधार-भित्ति
दो परम्पराएँ
पर्यायार्थिक नय
अर्थनय और शब्दनय
नय-विभाग का आधार
नय के विषय का अल्प-बहुत्व
नय की शब्द-योजना
नय की त्रिभंगी या सप्त भंगी
ऐकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद
एकान्तवाद : प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

"नत्थि नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थोय जिणमए किंचि।
आसज्जउ सोयारं, नए नय विसारओ बूआ॥"

आव० नि० गाथा ७६२

सापेक्ष-दृष्टि

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा के विना उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है किन्तु इससे व्यवहार नहीं चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का ही हो सकता है। अमुक समय में अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु-धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता है, अखण्ड वस्तु का नहीं। हमारी सहज अपेक्षाएं भी ऐसी ही होती हैं। विटामिन डी (VitaminD) की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आताप लेता है, वह बालसूर्य की किरणों का लेगा। शरीर-विजय की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने वाला तरुणसूर्य की धूप में आताप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुड़ी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस में विरोधी बन जाता है।

एक काठ के टुकड़े का मूल्य एक रुपया होता है, उसीका उत्कीर्णन (खुदाई) के बाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यो? काठ नही बदला फिर भी उसकी स्थिति बदल गई। उसके साथ साथ मूल्य की अपेक्षा बदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अब भी वही एक रुपया मूल्य है किन्तु खुदाई की अपेक्षा मूल्य वह नहीं, नौ रुपये और बढ़ गए। एक और दस का मूल्य विरोधी है पर अपेक्षा भेद समझने पर विरोध नही रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पैदा होता है। भेद मुख्य-वृत्या चार होते हैं—

(१) वस्तु-भेद।

(२) क्षेत्र-भेद या आश्रय भेद।

(३) काल-भेद।

(४) अवस्था भेद।

तात्पर्य यह है—"सत्ता वही जहाँ अर्थ-क्रिया, अर्थ क्रिया वही जहाँ क्रम-अक्रम, क्रम-अक्रम वही जहाँ अनेकान्त होता है। एकान्तवादी व्यापक अनेकान्त को नहीं मानते, तब व्याप्य क्रम-अक्रम नही, क्रम-अक्रम के बिना क्रिया व कारक नही, क्रिया व कारक के बिना बन्ध आदि चारो (बन्ध, बन्ध कारण, मोक्ष, मोक्ष कारण) नही होते[१]। इसलिए समस्याओ से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्तदृष्टि ही शरण है। काठ के टुकड़े के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होने वाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें तो भिन्न मूल्यों का समन्वय नही किया जा सकता।

आम की ऋतु में रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु बीतने पर सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाते हैं। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यो के लिए झगड़ा नहीं करता। उसकी सहज बुद्धि में काल-भेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

काश्मीर में मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान में नहीं होता। काश्मीर का व्यक्ति राजस्थान में आकर यदि काश्मीर-सुलभ मूल्य में मेवा लेने का आग्रह करे तो वह बुद्धिमानी नहीं होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि है किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नहीं है। जिसे आम की आवश्यकता है वह सीधा आम के पास ही पहुँचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओ के अभाव धर्म वाला और आम-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्ष-दृष्टि के बिना व्यावहारिक समाधान भी नही मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षादृष्टियां

"से निच्चनिच्चेहिं समिक्ख पण्णे[२]"—अव्युच्छेद की दृष्टि से वस्तु नित्य है, व्युच्छेद की दृष्टि से अनित्य। भगवान् ने अविच्छेद और विच्छेद दोनो का समन्वय किया। फलस्वरूप ये निर्णय निकलते हैं कि—

(१) वस्तु न नित्य, न अनित्य किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।

(२) वस्तु न भिन्न, न अभिन्न किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।

(३) वस्तु न एक, न अनेक किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

इन्हे बुद्धिगम्य बनाने के लिए उन्होंने अनेक वर्गीकृत अपेक्षाएं प्रस्तुत कीं। वे कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) द्रव्य।
(२) क्षेत्र।
(३) काल।
(४) भाव-पर्याय या परिणमन[3]।
(५) भव।
(६) संस्थान[4]।
(७) गुण।
(८) प्रदेश-अवयव[5]।
(९) संख्या।
(१०) ओघ।
(११) विधान।...

काल और विशेष गुणकृत अविच्छिन्न नित्य काल और क्रमभावी धर्मकृत विच्छिन्न अनित्य होता है। क्षेत्र और सामान्य गुणकृत अविच्छिन्न अभिन्न, क्षेत्र और विशेष गुणकृत विच्छिन्न भिन्न होता है। वस्तु और सामान्य गुणकृत अविच्छिन्न एक, वस्तु और विशेष गुणकृत विच्छिन्न अनेक होता है।

वस्तु के विशेष गुण (स्वतन्त्र सत्ता-स्थापक धर्म) का कभी नाश नहीं होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रम-भावी धर्म बनते-बिगड़ते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण में एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति[6]।" वस्तु में इन विरोधी धर्मों का सहज सामञ्जस्य है। ये अपेक्षा दृष्टियाँ वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नहीं हैं। ये उस विरोध को मिटाती हैं, जो तर्कवाद से उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। मध्ययुगीन दर्शन प्रणेताओं की गति इस ओर कम रही। यह दुःख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नहीं कर सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता तो सत्य का मार्ग इतना कंटीला नही होता।

समन्वय की दिशा बताने वाले आचार्य नहीं हुए, ऐसा भी नही। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने दार्शनिक विवादों को मिटाने के लिए प्रचुर श्रम किया। इनमें हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा में परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्त्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है[७]।"

जैन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहाँ तक दोनों में कोई मतभेद नहीं। नैयायिक ईश्वर के साकार रूप में कर्तृत्व बतलाते हैं और जैन मनुष्य में ईश्वर बनने की क्षमता बतलाते हैं। नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता और जैन-दृष्टि में ऐश्वर्य-शक्ति सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमें विशेष विचार-भेद नहीं होता। अधिकांश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम सिद्धि की प्रक्रिया में होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिए—ईश्वर कर्तृत्ववादी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नही मानते। दोनो विचारधाराओं के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् और बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नहीं होता। यह स्थिति है। इसमें सब एक हैं। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हें कोई अस्वीकार नही कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया में। सृष्टिवादियों के सृष्टि,

पालन और संहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ मात्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते हैं। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्वनिमित्त से ही होती है। उत्पाद और व्यय स्वनिमित्त से होते ही हैं और परनिमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं। स्थिति सीधे शब्दों में नहीं मानते किन्तु सन्तति प्रवाह के रूप में स्थिति भी उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप में उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमें कोई मतभेद नहीं। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं[८] और वैदिक दृष्टि के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है[९]। मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया में है। निमित्त के विचार-भेद से इस प्रक्रिया को नैयायिक 'सृष्टिवाद,' जैन 'परिणामि-नित्यवाद' और बौद्ध 'प्रतीत्य-समुत्पाद वाद' कहते हैं। यह कारण-भेद प्रतीक परक है, सत्यपरक नहीं। प्रतीक के नाम और कल्पनाएँ भिन्न हैं किन्तु तथ्य की स्वीकारोक्ति भिन्न नहीं है। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य हैं, जिन पर विचार किया जाए तो उनके केन्द्र-विन्दु पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते।

भौगोलिक क्षेत्र में चलिए, प्राच्य भारतीय ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना जाता है। सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चर। कोपरनिकस पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर मानता था।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है। आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के अनुसार पृथ्वी चर है, सूर्य स्थिर या सूर्य चर है और पृथ्वी स्थिर, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में जो सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है, वह उनकी दृष्टि में गणित की सुविधा है, इसलिए वे कहते हैं—यह हमारा निश्चयवाद नहीं किन्तु सुविधावाद है। ग्रहण आदि निष्कर्ष दोनों गणित-पद्धतियों से समान निकलते हैं, इसलिए वस्तु स्थिति का निश्चय इन्द्रियज्ञान से सम्भव नहीं बनता। किन्तु भावी प्रत्यक्ष परिणाम को व्यक्त करने की पद्धति की अपेक्षा से किसी को भी असत्य नहीं माना जा सकता।

धर्म समन्वय

धर्म-दर्शन के क्षेत्र मे समन्वय की ओर संकेत करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—"समाज व्यवहार या दैनिक व्यवहार की अपेक्षा वैदिक धर्म, अहिंसा या मोक्षार्थ आचरण की अपेक्षा जैन धर्म, श्रुति-माधुर्य या करुणा की अपेक्षा बौद्ध धर्म और उपासना-पद्धति या योग की अपेक्षा शैव धर्म श्रेष्ठ है [१०]।" यह सही बात है। कोई भी तत्त्व सब अर्थो मे परिपूर्ण नही होता। पदार्थ की पूर्णता अपनी मर्यादा में ही होती है और उस मर्यादा की अपेक्षा से ही वस्तु को पूर्ण माना जाता है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना की वस्तु है, वस्तुस्थिति नही। आत्मा चरम विकास पा लेने के बाद भी अपने रूप मे पूर्ण होती है। किन्तु अचेतन पदार्थ की अपेक्षा उसकी पूर्णता नही होती। अचेतन रूप मे वह पूर्ण तब बने, जबकि वह सर्व भाव में अचेतन बन जाए—ऐसा होता नही, इसलिए अचेतन की सत्ता की अधिकारी कैसे बने। अचेतन अपनी परिधि मे पूर्ण है। अपनी परिधि में अन्तिम विकास हो जाए, उसी का नाम पूर्णता है। जैन धर्म जो मोक्ष-पुरुपार्थ है, मोक्ष की दिशा बताए, इसी में उसकी पूर्णता है और इसी अपेक्षा से वह उपादेय है। संसार चलाने की अपेक्षा से जैन धर्म की स्थिति ग्राह्य नही बनती। तात्पर्य यह है कि संसार में जितना मोक्ष है, उसकी जैन धर्म को अपेक्षा है किन्तु जो कोरा संसार है, उसकी अपेक्षा से जैन धर्म का अस्तित्व नहीं बनता। समाज की अपेक्षा सिर्फ मोक्ष ही नहीं, इसलिए उसे अनेक धर्मो की परिकल्पना आवश्यक हुई।

धर्म और समाज की मर्यादा और समन्वय

आत्मा अकेली है। अकेली आती है और अकेली जाती है। अपने किये का अकेली ही फल भोगती है। यह मोक्ष धर्म की अपेक्षा है। समाज की अपेक्षा इससे भिन्न है। उसका आधार है सहयोग। उसकी अपेक्षा है, सब कुछ सहयोग से बने। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति दोनो विचार लिए चल नहीं सकता किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जो व्यक्ति मोक्ष-धर्म की अपेक्षा आत्मा का अकेलापन और समाज की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप समझकर चले तो कोई विरोध नही आता। इसी अपेक्षा-दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने बताया—

"संसार और मोक्ष का मार्ग पृथक्-पृथक् है।" मोक्ष-दर्शन की अपेक्षा व्यक्ति का अकेलापन सत्य है और समाज-दर्शन की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप। सामुदायिकता और आत्म-साधना एक व्यक्ति में होती है किन्तु उनके उपादान और निमित्त एक नहीं होते। वे भिन्नहेतुक होती हैं, इसलिए उनकी अपेक्षाएं भी भिन्न होती हैं। अपेक्षाएं भिन्न होती हैं, इसलिए उनमें अविरोध होता है। आत्मा के अकेलेपन का दृष्टिकोण समाज विरोधी है और आत्मा के सामूहिक कर्म या फल भोग का दृष्टिकोण धर्म-विरोधी। किन्तु वास्तव में दोनो में कोई विरोधी नहीं। अपनी स्वरूप-मर्यादा में कोई विरोध होता नही। दूसरे के संयोग से जो विरोध की प्रतीति बनती है, वह अपेक्षा भेद से मिट जाती है। किसी भी वस्तु मे विरोध तब लगने लगता है, जब हम अपेक्षा को भुलाकर दो वस्तुओ को एक ही दृष्टि से समझने की चेष्टा करते हैं।

समय की अनुभूति का तारतम्य और सामञ्जस्य

प्रिय वस्तु के सम्पर्क मे वर्ष दिन जैसा और अप्रिय वस्तु के साहचर्य में दिन वर्ष जैसा लगता है, यह अनुभूति-सापेक्ष है। सुख-दुःख का समान समय काल-स्वरूप की अपेक्षा समान वीतता है किन्तु अनुभूति की अपेक्षा उसमे तारतम्य होता है। अनुभूति के तारतम्य का हेतु है—सुख और दुःख का संयोग। इस अपेक्षा से समान काल का तारतम्य सत्य है। कालगति की अपेक्षा तुल्यकाल तुल्यअवधि में ही पूरा होता है—यह सत्य है।

उपनिषद् में ब्रह्म को अणु से अणु और महत् से महत् कहा गया है। वह सत् भी है और असत् भी। उससे न कोई पर है और न कोई अपर, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा [११]।

अपेक्षा के बिना महाकवि कालिदास की निम्न प्रकारोक्ति सत्य नहीं बनती—"प्रिया के पास रहते हुए दिन अणु से अणु लगता है और उसके वियोग में बड़े से भी बड़ा [१२]।"

प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—अपेक्षावाद क्या है? आइन्स्टीन ने उत्तर मे कहा—"सुन्दर लड़की के साथ बातचीत करने वाले व्यक्ति को एक घण्टा एक मिनट के बराबर लगता है और वही गर्म स्टॉव के

के पास बैठता है तब उसे एक मिनट भी एक घण्टा जितना लम्बा लगता है— यह है अपेक्षावाद

विवेक और समन्वय-दृष्टि

अमुक कर्तव्य है या अकर्तव्य ? अच्छा है या बुरा ? उपयोगी है या अनुपयोगी ? ये प्रश्न हैं। इनका विवेक अपेक्षा-दृष्टि के विना हो नहीं सकता। अमुक देश, काल और वस्तु की अपेक्षा जो कर्तव्य होता है; वही भिन्न देश, काल और वस्तु की अपेक्षा अकर्तव्य बन जाता है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई पदार्थ अच्छा-बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी नही बनता। किसी एक अपेक्षा से ही हम किसी पदार्थ को उपयोगी या अनुपयोगी कह सकते हैं। यदि हमारी दृष्टि में कोई विशेष अपेक्षा न हो तो हम किसी वस्तु के लिए कुछ विशेष बात नहीं कह सकते।

धनसंग्रह की अपेक्षा से वस्तुओं को दुर्लभ करना अच्छा है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से अच्छा नहीं है। सन्निपात में दूध मिश्री पीना बुरा है किन्तु स्वस्थ दशा में वह बुरा नही होता। शीतकाल में गर्म कोट उपयोगी होता है, वह गर्मी में नही होता। गर्मी में ठंडाई उपयोगी होती है, वह सर्दी में नहीं होती। शान्तिकाल में एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति जो कर्तव्य होता है, वह युद्धकाल में नही होता। समाज की अपेक्षा से विवाह कर्तव्य है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह कर्तव्य नही होता। कोई कार्य, एक देश, एक काल, एक स्थिति में एक अपेक्षा से कर्तव्य और अकर्तव्य नही वनता वैसे ही एक कार्य सब दृष्टियो से कर्तव्य या अकर्तव्य बने, ऐसा भी नही होता। कार्य का कर्तव्य और अकर्तव्य भाव भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से परखा जाए, तभी उसमें सामञ्जस्य आसकता है।

एक गृहस्थ के लिए कठिनाई के समय भिक्षा जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उपयोगी हो सकती है किन्तु वैसा करना अच्छा नही। योग-विद्या का अभ्यास मानसिक स्थिरता की दृष्टि से अच्छा है किन्तु जीविका कमाने के लिए उपयोगी नही है।

भक्ष्य और अभक्ष्य, खाद्य और अखाद्य, ग्राह्य और अग्राह्य का विवेक भी सापेक्ष होता है। आयुर्वेदशास्त्र में ऋतु-आदेश के अनुसार पथ्य और अपथ्य

का विशद विवेचन और अनुपान के द्वारा प्रकृति-परिवर्तन का जो महान् सिद्धान्त मिलता है, वह भी काल और वस्तुयोग की अपेक्षा का आभारी है।

राजनीतिकवाद और अपेक्षादृष्टि

राजनीति के क्षेत्र में अनेक वाद चलते हैं। एकतन्त्र पद्धति दृढ़ शासन की अपेक्षा निर्दोष है, वह शासक की स्वेच्छाचारिता की अपेक्षा निर्दोष नही मानी जा सकती।

जनतन्त्र में स्वेच्छाचारिता का प्रतिकार है, परन्तु वहाँ दृढ शासन का अभाव होता है, इस अपेक्षा से वह त्रुटिपूर्ण माना जाता है।

साम्यवाद जीवन यापन की पद्धति को सुगम बनाता है, यह उसका उज्ज्वल पक्ष है तो दूसरी ओर व्यक्ति यन्त्र बनकर चलता है, वाणी और विचार स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से वह रुचिगम्य नही बनता।

राष्ट्र-हित की अपेक्षा से जहाँ राष्ट्रीयता अच्छी मानी जाती है किन्तु दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा या न्यूनता उत्पन्न करने की अपेक्षा से वह अच्छी नहीं होती। यही बात जाति, समाज और व्यक्तित्व के लिए है।

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सदाचार-असदाचार, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय यह सब सापेक्ष होते हैं। एक की अपेक्षा जो पुण्य या धर्म होता है, वही दूसरे की अपेक्षा पाप या अधर्म बन जाता है। पूँजीवादी-अर्थ व्यवस्था की अपेक्षा भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म माना जाता है किन्तु साम्यवादी-अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भिखारी को देना पुण्य या धर्म नही माना जाता। लोक-व्यवस्था की दृष्टि से विवाह सदाचार माना जाता है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह सदाचार नहीं है। उसकी दृष्टि में सदाचार है—पूर्ण ब्रह्मचर्य। दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं, समाज व्यवस्था की दृष्टि से सहवास के उपयोगी सभी व्यावहारिक नियम पुण्य, धर्म या सदाचार माने जाते हैं किन्तु मोक्ष-साधना की दृष्टि से ऐसा नही है। उसकी अपेक्षा में धर्म, सदाचार या पुण्य कार्य वही है, जो अहिंसात्मक है।

समाज की दृष्टि से व्यापार, खेती, शिल्पकारी आदि अल्प हिंसा या अनिवार्य हिंसा को अहिंसा माना जाता है किन्तु आत्म-धर्म की दृष्टि से यह अहिंसा नहीं है [१४]। दण्ड-विधान की अपेक्षा से अपराधी को अपराध के अनु-

रूप दण्ड देना न्याय माना जाता है किन्तु अध्यात्म की अपेक्षा से वह न्याय नहीं है। वह दूसरे व्यक्ति को दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार नही करता। पापी ही अपने अन्तःकरण से पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों आत्माश्रित धर्म हैं। परापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति वैभाविक होती हैं और सापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाभाविक। आत्मा की करण—वीर्य या शरीर—योग सहकृत जितनी प्रवृत्ति होती है, वह वैभाविक होती है। एक क्रियाकाल में दूसरी क्रिया की निवृत्ति होती है, यह स्वाभाविक निवृत्ति नही है। स्वाभाविक निवृत्ति है आत्मा की विभाव से मुक्ति-संयम। सहज प्रवृत्ति है आत्मा की पुद्गल-निरपेक्ष क्रिया (चित् और आनन्द का सहज उपयोग)।

शुद्ध आत्मा मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सहज होती हैं। पदार्थ के जो सहज धर्म हैं उनमें अच्छाई-बुराई, हेय-उपादेय का प्रश्न ही नहीं बनता। यह प्रश्न परपदार्थ से प्रभावित धर्मों के लिए होता है। बद्ध आत्मा की प्रवृत्ति परपदार्थ से प्रभावित भी होती है, तब प्रश्न होता है "प्रवृत्ति कैसी है"—अच्छी है या बुरी? हेय है या उपादेय? निवृत्ति कैसी है—अप्रवृत्तिरूप या विरतिरूप? अपेक्षादृष्टि के बिना इनका समाधान नहीं मिलता।

सहज प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति न हेय है और न उपादेय। वह आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप न छूटता है और न बाहर से आता है। इसलिए वह हेय और उपादेय कैसे बने? वैभाविक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है संयम-प्रेरित और असंयम-प्रेरित। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को संयम की ओर अग्रसर करती है, इसलिए वह साधन की अपेक्षा उपादेय बनती है, वह भी सर्वांश मे मोक्ष दृष्टि की अपेक्षा। लोक-दृष्टि सर्वांश में उसे समर्थन न भी दे।

असंयम प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को बन्धन की ओर ले जाती है, इसलिए मोक्ष की अपेक्षा वह उपादेय नहीं है। लोक-दृष्टि को इसकी उपादेयता स्वीकार्य है। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति शुद्धि का पक्ष है, इसलिए उसे लोक-दृष्टि का बहुलांश में समर्थन मिलता है किन्तु असंयम-प्रेरित प्रवृत्ति मोक्ष-सिद्धि का पक्ष नही है, इसलिए उसे मोक्ष-दृष्टि का एकांश में भी समर्थन नहीं मिलता।

संयम-प्रेरित प्रवृत्ति वैभाविक इसलिए है कि वह शरीर, वाणी और मन, जो आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं, के सहारे होती है। साधक-दशा समाप्त होते ही यह स्थिति समाप्त हो जाती है, या यूं कहिए शरीर, वाणी और मन के सहारे होने वाली संयम प्रेरित प्रवृत्ति मिटते ही साध्य मिल जाता है। यह अपूर्ण से पूर्ण की ओर गति है। पूर्णता के क्षेत्र में इनका कार्य समाप्त हो जाता है। असंयम का अर्थ है—राग, द्वेष और मोह की परिणति। जहाँ राग, द्वेष और मोह की परिणति नहीं, वहाँ संयम होता है। निवृत्ति का अर्थ सिर्फ 'निषेध' या 'नहीं करना' ही नहीं है। 'नहीं करना'—यह प्रवृत्ति की निवृत्ति है किन्तु प्रवृत्ति करने की जो आन्तरिक वृत्ति (अविरति) है, उसकी निवृत्ति नहीं है। क्रिया के दो पक्ष होते हैं—अविरति और प्रवृत्ति[१५]। अविरति उसका अन्तरंग पक्ष है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में अत्याग या असंयम कहा जाता है। प्रवृत्ति उसका बाहरी या स्थूल रूप है। यह योगात्मक क्रिया यानि शरीर, भाषा और मन के द्वारा होने वाली प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति अविरति-प्रेरित होती है (जहाँ अविरति और प्रवृत्ति दोनों संयुक्त होती हैं) वहाँ निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता और जहाँ अविरति होती है, प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ प्रवृत्ति की अपेक्षा (मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म की अपेक्षा) निवृत्ति होती है। और जहाँ अविरति नहीं होती केवल प्रवृत्ति होती है, वहाँ अविरति की अपेक्षा निवृत्ति और मन, भाषा और शरीर की अपेक्षा प्रवृत्ति होती है। अपूर्ण दशा में पूर्ण निवृत्ति होती नहीं। अविरति-निवृत्तिपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वहाँ निवृत्ति संयम है। अविरति के भाव में स्थूल प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है, वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, उससे असंयम को पोषण नहीं मिलता किन्तु मूलतः असंयम का अभाव नहीं, इसलिए वह (निवृत्ति) संयम नहीं बनती।

श्रद्धा और तर्क

अति श्रद्धावाद और अति तर्कवाद—ये दोनों मिथ्या हैं। प्रत्येक तत्त्व की यथार्थता अपने-अपने क्षेत्र में होती है। इनकी भी अपनी-अपनी मर्यादाएं हैं।

भाव दो प्रकार के हैं :—

(१) हेतु गम्य।

(२) अहेतु गम्य[१६]।

हेतुगम्य तर्क का विषय है और अहेतुगम्य श्रद्धा का। तर्क का क्षेत्र सीमित है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष जो है, वही चरम या पूर्ण सत्य है, यह बात सत्यान्वेषक नहीं मानता। एक व्यक्ति को अपने जीवन में जो स्वयं ज्ञात होता है, वह उतना ही नहीं जानता, उससे अतिरिक्त भी जानता है। अतीन्द्रिय अर्थ तर्क का विषय नही बनता। यदि तर्क के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जा सकते तो आज तक उनका निश्चय हो गया होता[१७]। तर्क के लिए जो अगम्य था, वह आज विज्ञान के प्रयोगों द्वारा गम्य बन गया। फिर भी सब कुछ गम्य हो गया, यह नही कहा जा सकता। एक समस्या का समाधान होता है तो उसके साथ-साथ अनेक नई समस्याएं जन्म ले लेती हैं। आज से सौ वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों के सामने शक्ति के स्रोतो को पाने की समस्या थी। उसका समाधान हो गया। नई समस्या यह है कि उनका मितव्यय कैसे किया जाए? यही बात अगम्य की है। अगम्य जितने अंशो में गम्य बनता है, उससे कहीं अधिक अगम्य आगे आ खड़ा होता है।

इन्द्रिय और मन से परे भी ज्ञान है, यह शुद्ध तर्क के आधार पर नही समझा जा सकता किन्तु जब आँखें मूँदकर या आँखो पर सने आटे की मोटी पट्टी या लोह की घनी चद्दर लगा पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, तब तर्कवाद ठिठुर जाता है। इसीलिए अध्यात्मयोगी आचार्य हरिभद्र कहते हैं—"शुष्क तर्क का आग्रह मिथ्या अभिमान लाता है, इसलिए मुमुक्षु वैसा आग्रह न रखे[१८]।"
शुष्क तर्क वह है जो अपनी सीमा से बाहर चले, अतीन्द्रिय ज्ञान का सहारा लिए बिना अतीन्द्रिय पदार्थ का निराकरण करे।

तर्क के बिना कोरी श्रद्धा अन्ध विश्वास उत्पन्न करती है। श्रद्धा की भी सीमा है। वीतराग की वाणी ही श्रद्धा का क्षेत्र है। वीतरागता स्वय एक समस्या है। राग द्वेष-हीन मनोवृत्ति में आग्रह-हीनता होगी। आग्रह-हीन व्यक्ति मिथ्याभिमान या मिथ्या प्रकाशन नहीं करता, इसलिए श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु वीतरागता ही है। आग्रह-हीनता होने पर भी अज्ञान हो सकता है। अज्ञान से सत्य का प्रकाश नही मिल सकता। सत्य का प्रकाश तब मिले, जब आग्रह न हो और ज्ञान हो। श्रद्धा का तर्क पर और तर्क का श्रद्धा पर नियमन रहता है, तब दोनों मिथ्यावाद से बच जाते हैं।

श्रद्धा और तर्क परस्पर सापेक्ष हैं, यही नय रहस्य है। इस प्रकार पदार्थ का प्रत्येक पहलू अपेक्षापूर्वक समझा जाए तो दुराग्रह की गति सहज शिथिल हो जाती है।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से ही नहीं किया जाता। निश्चय और व्यवहार दोनों उसके स्तम्भ बनते हैं। व्यवहार वस्तु शरीरगत सत्य होता है और निश्चय वस्तु आत्मगत सत्य। ये दोनो मिलकर सत्य को पूर्ण बनाते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप मे होने वाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूलरूप, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप मे पूर्ण नही होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप में कोई पदार्थ पूर्ण नही होता। सर्वसत्तात्मक या सर्व-अ-सत्तात्मक जैसा कोई पदार्थ है ही नहीं। पदार्थ की यह स्थिति है, तब नय निरपेक्ष बनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नहीं होता कि नय हमे पूर्ण सत्य तक ले नही जाते। वे ले जाते अवश्य हैं किन्तु सब मिलकर एक नय पूर्ण सत्य का एक अश होता है। वह अन्य नय सापेक्ष रहकर सत्यांश का प्रतिपादक बनता है।

नय या सद्वाद

१—एक धर्म का सापेक्ष प्रतिपादन करने वाला नय वाक्य—सद्वाद।

२—एक धर्म का निरपेक्ष प्रतिपादन करने वाला वाक्य—दुर्नय।

अनुयोग द्वार में चार प्रमाण बतलाए हैं —

(१) द्रव्य-प्रमाण।

(२) क्षेत्र-प्रमाण।

(३) काल-प्रमाण।

(४) भाव-प्रमाण।

भाव-प्रमाण के तीन भेद होते हैं :—

(१) गुण-प्रमाण।

(२) नय-प्रमाण।

(३) संख्या-प्रमाण।

एक धर्म का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द,—ये दोनो नय कहलाते हैं [१९]। ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है।

नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियिक नही होता। नय से अनन्त धर्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है। इससे जो बोध होता है, वह यथार्थ होता है, इसलिए यह प्रमाण है किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नहीं जानी जाती। इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नहीं बनता। यह एक समस्या बन जाती है। दार्शनिक आचार्यों ने इसे यूं सुलझाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा नय प्रमाण नही है। वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नही है अप्रमाण तो है ही नही पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नही है, इसलिए इसे प्रमाणांश कहना चाहिए।

अखण्डवस्तुग्राही यथार्थ ज्ञान प्रमाण होता है, इस स्थिति में वस्तु को खण्डशः जानने वाला विचार 'नय'। प्रमाण का चिन्ह है—'स्यात्' नय का चिह्न है—'सत्'। प्रमाणवाक्य को स्याद्वाद कहा जाता है और नय वाक्य को सद्वाद। वास्तविक दृष्टि से प्रमाण स्वार्थ होता है और नय स्वार्थ और परार्थ दोनो। एक साथ अनेक धर्म कहे नही जा सकते, इसलिए प्रमाण का वाक्य नहीं बनता। वाक्य बनें विना परार्थ कैसे बने? प्रमाणवाक्य जो परार्थ बनता है, उसके दो कारण हैं:—

(१) अभेदवृत्ति-प्राधान्य।

(२) अभेदोपचार।

द्रव्यार्थिक नय के अनुसार धर्मों में अभेद होता है और पर्यायार्थिक की दृष्टि से उनमें भेद होने पर भी अभेदोपचार किया जाता है [२०]। इन दो निमित्तो से वस्तु के अनन्त धर्मों को अभिन्न मानकर एक गुण की मुख्यता से अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन विवक्षित हो, तब प्रमाणवाक्य बनता है। यह

सकलादेश है, इसलिए इसमें वस्तु को विभक्त करने वाले अन्य गुणों की विवक्षा नहीं होती।

वस्तु प्रतिपादन के दो प्रकार हैं—क्रम और यौगपद्य। इनके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं। इनका आधार है—भेद और अभेद की विवक्षा। यौगपद्य-पद्धति प्रमाणवाक्य है। भेद की विवक्षा में एक शब्द एक काल में एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। यह अनुपचरित पद्धति है। यह क्रम की मर्यादा में परिवर्तन नहीं ला सकती, इसलिए इसे विकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश का अर्थ है—निरंश वस्तु में गुण-भेद से अंश की कल्पना करना। अखण्ड वस्तु में काल आदि की दृष्टि से विभिन्न अंशों की कल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है।

वस्तु विश्लेषण की प्रक्रिया का आधार यही बनता है। विश्लेषण की अनेक दृष्टियां हैं—

(१) व्यवहार-दृष्टि
(२) निश्चय-दृष्टि
(३) रासायनिक-दृष्टि
(४) भौतिक विज्ञान-दृष्टि।
(५) शब्द-दृष्टि।
(६) अर्थ-दृष्टि ···आदि-आदि।

व्यवहार दृष्टि में चींटी का शरीर त्वक्, रस, रक्त जैसे पदार्थों से बना होता है, रासायनिक विश्लेषण इन पदार्थों के भीतर सत्त्वमूल (Protoplasm) कई प्रकार के अम्ल और क्षार, जल, नमक आदि बताता है। शुद्ध रासायनिक दृष्टि के अनुसार चींटी का शरीर आइजन (Ozone) नाइट्रोजन (Nitrogen), आक्सीजन (Oxygen), गन्धक (Sulpher) फासफोरस (Phosphorus) और कार्बन (Carbon) के परमाणुओं का समूह है। भौतिक विज्ञानी उसे पहले तो धन और ऋण विद्युत्कणों का पुञ्ज और फिर शुद्ध वायु तत्त्व का भेद बताता है।

निश्चय-दृष्टि में वह पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श युक्त औदारिक वर्गणा के पुद्गलो का समुदाय है।

एक ही वस्तु के ये जितने विश्लेषण हैं, उतने ही उनके हेतु हैं—अपेक्षाएं हैं। इन्हे अपनी अपनी अपेक्षा से देखें तो सब सत्य हैं और यदि निरपेक्ष विश्लेषण को सत्य माने तो वह फिर दुर्नय बन जाता है। सापेक्ष नय में विरोध नही आता और ज्यों ही ये निरपेक्ष बन जाते हैं, त्यो ही ये असत्-एकान्त के पोषक बन मिथ्या बन जाते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, वातावरण आदि के सहारे वस्तुस्थिति को सही पकड़ा जा सकता है, उसका मौलिक दृष्टि-बिन्दु या हार्द समझा जा सकता है। द्रव्य आदि से निरपेक्ष वस्तु को समझने का प्रयत्न हो तो कोरा कलेवर हाथ आ जाता है किन्तु उसकी सजीवता नही आती। मार्क्स ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर समाज के आर्थिक ढांचे की जो छानबीन की और निष्कर्ष निकाले, उन्हे आर्थिक पहलू की अपेक्षा मिथ्या कैसे माना जाय ? किन्तु आर्थिक व्यवस्था ही समाज के लिए सब कुछ है, यह आत्मशान्ति-निरपेक्षदृष्टि है, इसलिए सत्य नही है।

शरीर के बाहरी आकार-प्रकार में क्रमिक परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से डारविन के क्रम-विकासवाद को मिथ्या नही माना जा सकता किन्तु उनने आन्तरिक योग्यता की अपेक्षा रखे बिना केवल बाहरी स्थितियो को ही परिवर्तन का मुख्य हेतु माना, यह सच नही है।

इसी प्रकार यदृच्छावादी यदृच्छा को, आकस्मिकवादी आकस्मिकता को, कालवादी काल को, स्वभाववादी स्वभाव को, नियतिवादी नियति को, दैववादी दैव को और पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ को ही कार्य-सिद्धि का कारण बतलाते हैं, यह मिथ्यावाद है। सापेक्षदृष्टि से सब कार्य सिद्धि के प्रयोजक हैं और सब सच हैं। काल वस्तु के परिवर्तन का हेतु है, स्वभाव वस्तु का स्वरूप या वस्तुत्व है, नियति वस्तु का ध्रुव सत्य नियम है, दैव वस्तु के पुरुषार्थ का परिणाम है, पुरुषार्थ वस्तु की क्रियाशीलता है।

पुरुषार्थ तब हो सकता है, जब कि वस्तु में परिवर्तन का स्वभाव हो। स्वभाव होने पर भी तब तक परिवर्तन नहीं होता, जब तक उसका कोई कारण

न मिले। परिवर्तन का कारण भी विश्व के शाश्वतिक नियम की उपेक्षा नही कर सकता और परिवर्तन क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप मे ही होगा, अन्यथा नही। इस प्रकार ये सब एक दूसरे से सापेक्ष बन कार्य-सिद्धि के निमित्त बनते हैं।

नय-दृष्टि के अनुसार न दैव को सीमातिरेक महत्त्व दिया जा सकता है और न पुरुषार्थ को। दोनो तुल्य हैं। आत्मा के व्यापार से कर्म संचय होता है, वही दैव या भाग्य कहलाता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही कर्म का संचय होता है और उसका भोग (विपाक) भी पुरुषार्थ के बिना नही होता। अतीत का दैव वर्तमान पुरुषार्थ पर प्रभाव डालता है और वर्तमान पुरुषार्थ से भविष्य के कर्म संचित होते हैं।

बलवान् पुरुषार्थ संचित कर्म को परिवर्तित कर सकता है और बलवान् कर्म पुरुषार्थ को भी निष्फल बना सकते हैं। संसारोन्मुख दशा में ऐसा चलता ही रहता है।

आत्म-विवेक जगने पर पुरुषार्थ में सत् की मात्रा बढ़ती है, तब वह कर्म को पछाड़ देता है और पूर्ण निर्जरा द्वारा आत्मा को उससे मुक्ति भी दिला देता है। इसलिए कर्म या भाग्य को ही सब कुछ मान जो पुरुषार्थ की अवहेलना करते हैं, वह दुर्नय है और जो व्यक्ति अतीत-पुरुषार्थ के परिणाम रूप भाग्य को स्वीकार नही करते, वह भी दुर्नय है।

स्वार्थ और परार्थ

पाच ज्ञानो में चार ज्ञान मूक हैं और श्रुत ज्ञान अमूक। जितना वाण् व्यवहार है, वह सब श्रुत ज्ञान का है [२१]। इसके तीन भेद हैं :—

(१) स्याद्वाद-श्रुत।

(२) नय-श्रुत [२२]।

(३) मिथ्या-श्रुत या दुर्नय श्रुत।

शेष चार ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। श्रुत स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है; ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ और वचनात्मकश्रुत परार्थ। नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं, इसीलिए कहा गया है—"जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय हैं [२३]।"

पर प्रतीति के लिए अनुमान या प्रत्यक्ष किसी के द्वारा ज्ञात अर्थ कहा जाए, वह परार्थ श्रुत ही होगा।

जैनेतर दर्शन केवल अनुमान वचन को ही परार्थ मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष वचन को भी परार्थ माना है। "धूम है, इसलिए अग्नि है"—यह बताना जैसे परार्थ है, वैसे ही "देख, यह राजा जा रहा है"—यह भी परार्थ है [२४]। पहला अनुमान वचन है, दूसरा प्रत्यक्ष वचन। जहाँ वचन बनता है, वहाँ परार्थता अपने आप बन जाती है।

वचन-व्यवहार का वर्गीकरण

वचन-व्यवहार के अनन्त मार्ग हैं किन्तु उनके वर्ग अनन्त नहीं हैं। उनके मौलिक वर्ग दो हैं :—

(१) भेद-परक।

(२) अभेद-परक।

भेद और अभेद—ये दोनों पदार्थ के भिन्नाभिन्न धर्म हैं। न अभेद से भेद सर्वथा पृथक् होता है और न भेद से अभेद। नाना रूपों में वस्तु—सत्ता एक है और एक वस्तु-सत्ता के नाना रूप हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु है, वह सत् है और जो सत् नहीं, वह अवस्तु है—कुछ भी नहीं है। सत् है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मर्यादा। इसका अतिक्रमण करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए सत् की दृष्टि से सब एक हैं—उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं। विशेष धर्मों की अपेक्षा से एक नहीं हैं। चेतन और अचेतन में अनैक्य है—भेद है। चेतन की देश-काल-कृत अवस्थाओं में भेद है फिर भी चेतनता की दृष्टि से सब चेतन एक हैं। यूं ही अचेतन के लिए समझिए।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत्ता प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है किन्तु वह वस्तुओं की उत्पादक या नियामक सत्ता नहीं है। वस्तु मात्र में उसकी उपलब्धि है, इसीलिए वह एक है। वस्तु-स्वरूप से अतिरिक्त दशा में व्याप्त होकर वह एक नहीं है। अनेकता भी एक सत्ता के विशेष स्वरूप से उद्भूत विविध रूप वाली नहीं है। वह सत्तात्मक विशेष स्वरूपवाली वस्तुओं की विविध अवस्थाओं से उत्पन्न होती है, इसीलिए वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक या अनेक नहीं बनता। नय-वाक्य वस्तु प्रतिपादन की पद्धति है। सत्तात्मक

अखण्ड वस्तु 'जगत्' और विशेष-स्वरूपात्मक अखण्ड वस्तु 'द्रव्य' वस्तुवृत्त्या अवक्तव्य हैं। इसलिए नय के द्वारा क्रमिक प्रतिपादन होता है। कभी वह सत्तात्मक या द्रव्यात्मक सामान्यधर्म का प्रतिपादन करता है और कभी विशेष स्वरूपात्मक पर्याय धर्म का। सामान्य-विशेष दोनो पृथक् होते नही, इसलिए सामान्य की विवक्षा मुख्य होने पर विशेष और विशेष की विवक्षा मुख्य होने पर सामान्य गौण बन जाते है। देखिए—जागतिक व्यवस्था की कितनी सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति है। इसमे सबको अवसर मिलता है। दोनो प्रधान रहे, यह विरोध की स्थिति है। दोनों अप्रधान बन जाएं, तब काम नही बनता। अविरोध की स्थिति यह है कि एक दूसरे को अवसर दे, दूसरे की मुख्यता मे सहिष्णु बने। नयवाद इसी प्रक्रिया मे सफल हुआ है।

नयवाद की पृष्ठभूमि

विभिन्न विचारों के संघर्षण से स्फुलिङ्ग बनते हैं, ज्योतिपुञ्ज से विलग हो नभ को छूते है, क्षण में लीन हो जाते हैं—यह एकांगी दृष्टि-बिन्दु का चित्र है। नय एकांगी दृष्टि है। किन्तु ज्योतिपुञ्ज से पृथक् जा पड़ने वाला स्फुलिङ्ग नही। वह समग्र में व्याप्त रहकर एक का ग्रहण या निरूपण करता है।

बौद्ध कहते हैं—रूप आदि अवस्था ही वस्तु—द्रव्य है। रूप आदि से भिन्न सजातीय क्षण परम्परा से अतिरिक्त द्रव्य—वस्तु नही है[२५]। वेदान्त का अभिमत है—द्रव्य ही वस्तु है, रूप आदि गुण तात्त्विक नहीं हैं[२६]। बौद्ध की दृष्टि में गुणों का आधार-द्रव्य तात्त्विक नही, इसलिए भेद सत्य है। वेदान्त की दृष्टि में द्रव्य के आधेय गुण तात्त्विक नहीं, इसलिए अभेद सत्य है। प्रमाण-सिद्ध अभेद का लोप नहीं किया जा सकता, इसलिए बौद्धों को सत्य के दो रूप मानने पड़े—(१) संवृत्ति (२) परमार्थ। भेद की दिशा मे वेदान्त की भी यही स्थिति है। उसके अनुसार जगत् या प्रपंच प्रातीतिक सत्य है और ब्रह्म वास्तविक सत्य। भेद और अभेद के द्वन्द्व का यह एक निदर्शन है। यही नयवाद की पृष्ठभूमि है॥

नयवाद अभेद और भेद—इन दो वस्तु-धर्मों पर टिका हुआ है। इसके अनुसार वस्तु अभेद और भेद की समष्टि है। इसलिए अभेद भी सत्य है

और भेद भी। अभेद से भेद और भेद से अभेद सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए यूं कहना होगा कि स्वतन्त्र अभेद भी सत्य नही है, स्वतन्त्र भेद भी सत्य नहीं है किन्तु सापेक्ष अभेद और भेद का संवलित रूप सत्य है। आधार भी सत्य है, आधेय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है, पर्याय भी सत्य है, जगत् भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है, विभाव भी सत्य है, स्वभाव भी सत्य है। जो त्रिकाल-अबाधित है, वह सब सत्य है।

सत्य के दो रूप हैं, इसलिए परखने की दो दृष्टियां हैं—(१) द्रव्य-दृष्टि (२) पर्याय-दृष्टि। सत्य के दोनो रूप सापेक्ष हैं, इसलिए ये भी सापेक्ष हैं। द्रव्य दृष्टि का अर्थ होगा द्रव्य प्रधान दृष्टि और पर्याय दृष्टि का अर्थ पर्याय प्रधान दृष्टि। द्रव्य-दृष्टि में पर्याय दृष्टि का गौण रूप और पर्याय-दृष्टि में द्रव्य-दृष्टि का गौण रूप अन्तर्हित होगा। द्रव्य-दृष्टि अभेद का स्वीकार है और पर्याय-दृष्टि भेद का। दोनो की सापेक्षता भेदाभेदात्मक सत्य का स्वीकार है।

अभेद और भेद का विचार आध्यात्मिक और वस्तुविज्ञान—इन दो दृष्टियों से किया जाता है। जैसे :—

सांख्य—प्रकृति पुरुष का विवेक—भेद ज्ञान करना सम्यग्-दर्शन, इनका एकत्व मानना मिथ्या दर्शन।

वेदान्त—प्रपंच और ब्रह्म को एक मानना सम्यग् दर्शन, एक तत्त्व को नाना समझना मिथ्या दर्शन।

जैन—चेतन और अचेतन को भिन्न मानना सम्यग् दर्शन, इनको अभिन्न मानना मिथ्या दर्शन।

भेद-अभेद का यह विचार आध्यात्मिक दृष्टिपरक है। वस्तु विज्ञान की दृष्टि से वस्तु उभयात्मक (द्रव्य-पर्यायात्मक) है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं :—

(१) निश्चय।
(२) व्यवहार।

निश्चय दृष्टि द्रव्याश्रयी या अभेदाश्रयी है। व्यवहार दृष्टि पर्यायाश्रयी या भेदाश्रयी है।

वेदान्त और बौद्ध सम्मत व्यवहार-दृष्टि से जैन सम्मत व्यवहार-दृष्टि का नाम साम्य है किन्तु स्वरूप साम्य नही। वेदान्त व्यवहार, माया या अविद्या को और बौद्ध संवृत्ति को अवास्तविक मानता है किन्तु जैन दृष्टि के अनुसार वह अवास्तविक नहीं है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन निश्चय दृष्टियाँ हैं; ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार व्यवहार दृष्टियाँ[२७]। व्यवहार और निश्चय—ये दो दृष्टियां प्रकारान्तर से भी मिलती हैं[२८]।

व्यवहार—स्थूल पर्याय का स्वीकार, लोक सम्मत तथ्य का स्वीकार।

निश्चय—वस्तुस्थिति का स्वीकार।

पहली में इन्द्रियगम्य तथ्य का स्वीकार है, दूसरी में प्रज्ञागम्य सत्य का। व्यवहार तर्कवाद है और निश्चय अन्तरात्मा से उद्‌भूत होने वाला अनुभव।

चार्वाक की दृष्टि मे सत्य इन्द्रियगम्य है और वेदान्त की दृष्टि में सत्य अतीन्द्रिय है[२९]। जैन-दृष्टि के अनुसार दोनो सत्य हैं। निश्चय वस्तु के सूक्ष्म और पूर्ण स्वरूप का अगीकार है और व्यवहार उसके स्थूल और अपूर्ण स्वरूप का अंगीकार। मात्रा-भेद होने पर भी दोनो मे सत्य का ही अगीकार है, इसलिए एक को अवास्तविक और दूसरे को वास्तविक नही माना जा सकता।

मुण्डकोपनिषद् (१।४।५) मे विद्या के दो भेद हैं—अपरा और परा। पहली का विषय वेद-ज्ञान और दूसरी का शाश्वत ब्रह्म ज्ञान है। इन्हे तार्किक और आनुभविक ज्ञान के दो रूप में व्यवहार और निश्चय नय कहा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से जीव सवर्ण है और निश्चय दृष्टि से वह अवर्ण[३०]। जीव अमूर्त्त है, इसलिए वह वस्तुतः वर्णयुक्त नही होता—यह वास्तविक सत्य है। शरीरधारी जीव कथंचित् मूर्त्त होता है—शरीर मूर्त्त होता है। जीव उससे कथचित् अभिन्न है, इसलिए वह भी सवर्ण है, यह औपचारिक सत्य है।

एक भौरा, जो काला दीख रहा है, वह सफेद भी है, हरा भी है और-और रंग भी उसमे हैं—यह पूर्ण तथ्योक्ति है।

"भौरा काला है"—यह सत्य का एक देशीय स्वीकार है।

इन प्रकारान्तर से निरूपित व्यवहार और निश्चय दृष्टियो का आधार नयवाद की आधार-भित्ति से भिन्न है। उसका आधार अभेद-भेदात्मक वस्तु ही है। इसके अनुसार नय एक ही है—"द्रव्य पर्यायार्थिक"। वस्तु-स्वरूप भेदाभेदात्मक है, तब नय द्रव्य-पर्यायात्मक ही होगा।

नय सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो रूप बन जाते हैं।

(१) जहाँ पर्याय गौण और द्रव्य मुख्य होता है, वह द्रव्यार्थिक।

(२) जहाँ द्रव्य गौण तथा पर्याय मुख्य होता है, वह पर्यायार्थिक।

वस्तु के सामान्य और विशेष रूप की अपेक्षा से नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो भेद किए, वैसे ही इसके दो भेद और बनते हैं :—

(१) शब्दनय।

(२) अर्थनय।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दाश्रयी और अर्थाश्रयी। उपयोगात्मक या विचारात्मक नय, अर्थाश्रित, और प्रतिपादनात्मक नय, आगम या शाब्द ज्ञान, का कारण होता है, इसलिए श्रोता की अपेक्षा वह शब्दाश्रित होना चाहिए किन्तु यहाँ यह अपेक्षा नही है। यहाँ वाच्य में वाचक की प्रवृत्ति को गौण-मुख्य मानकर विचार किया गया है। अर्थनय में अर्थ की मुख्यता है और उसके वाचक की गौणता। शब्दनय में शब्द-प्रयोग के अनुसार अर्थ का बोध होता है, इसलिए यहाँ शब्द मुख्य ज्ञापक बनता है, अर्थ गौण रह जाता है।

(१) वास्तविक दृष्टि को मुख्य मानने वाला अभिप्राय निश्चय नय कहलाता है।

(२) लौकिक दृष्टि को मुख्य मानने वाला अभिप्राय व्यवहार नय कहलाता है।

सात नय निश्चय नय के भेद हैं। व्यवहार नय को उपनय भी कहा जाता है। व्यवहार उपचरित है। अच्छा मेह बरसता है, तब कहा जाता है "अनाज बरस रहा है।" यहाँ कारण में कार्य का उपचार है। मेह तो अनाज का कारण है, उसे अपेक्षावश धान्योत्पादक वृष्टि की अनुकूलता बताने के लिए अनाज समझा या कहा जाए, यह उचित है किन्तु उसे अनाज

ही समझ लिया जाए, वह सही दृष्टि नहीं। व्यवहार की बात को निश्चय की दृष्टि से देखा जाए, वहाँ वह मिथ्या बन जाती है। अपनी मर्यादा में यह सत्य है। सात नय में जो व्यवहार है, उसका अर्थ उपचार या स्थूलदृष्टि नहीं है। उसका अर्थ है—विभाग या भेद। इसलिए इन दोनों में शब्द-साम्य होने पर भी अर्थ-साम्य नहीं है।

(३) ज्ञान को मुख्य मानने वाला अभिप्राय ज्ञान नय कहलाता है।

(४) क्रिया को मुख्य मानने वाला अभिप्राय क्रियानय कहलता है आदि-आदि।

इस प्रकार अनेक, असंख्य या अनन्त अपेक्षाएँ बनती हैं। वस्तु के जितने सहभावी और क्रमभावी, सापेक्ष और परापेक्ष धर्म हैं, उतनी ही अपेक्षाएं हैं। अपेक्षाएं स्पष्ट बोध के लिए होती हैं। जो स्पष्ट बोध होगा, वह सापेक्ष ही होगा।

सत्य का व्याख्याद्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेक रूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है। सत्य एक और अनेक भाव का अविभक्त रूप है, इसलिए उसकी व्याख्या करने वाले नय भी परस्पर-सापेक्ष हैं।

सत्य अपने आपमें पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु, एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। गुरु और लघु क्या है? दूर और निकट क्या है? ऊर्ध्व और निम्न क्या है? सरल और वक्र क्या है?—वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति में इनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह स्थिति पदार्थ का अपने से बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध होने पर बनती है किन्तु उसकी

बाह्य-जगत्-निरपेक्ष अपनी स्थिति भी अपेक्षा से मुक्त नहीं है। कारण कि पदार्थ अनन्त गुणों का सहज सामञ्जस्य है। उसके सभी गुण, धर्म या शक्तियां अपेक्षा की शृङ्खला में गूंथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नहीं।' चेतन पदार्थ चैतन्य गुण की अपेक्षा से चेतन है किन्तु उसके सहभावी अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणों की अपेक्षा से चेतन पदार्थ की चेतनशीलता नहीं है। अनन्त शक्तियो और उनके अनन्त कार्य या परिणामो की जो एक संकलना, समन्वय या शृंखला है वही पदार्थ है। इसलिए विविध शक्तियों और तज्जनित विविध परिणामो का अविरोधभाव सापेक्ष स्थिति में ही हो सकता है।

नय का उद्देश्य

"सव्वेसिं पि णयाणं, बहुविह वत्तव्वयं णिसामित्ता।
तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू॥"

—भद्रबाहु—आवश्यक नियुंक्ति १०।५५

चरण गुण-स्थिति परम माध्यस्थ्यरूप है। वह राग-द्वेष का विलय होने से मिलती है। नय का उद्देश्य है—माध्यस्थ्य बढ़े, मनुष्य विचार-सहिष्णु बने, नानाप्रकार के विरोधी लगने वाले विचारों में समन्वय करने की योग्यता विकसित हो।

कोई भी व्यक्ति सदा पदार्थ को एक ही दृष्टि से नहीं देखता। देश, काल और स्थितियो का परिवर्तन होने पर दर्शक की दृष्टि में भी परिवर्तन होता है। यही स्थिति निरूपण की है। वक्ता का झुकाव पदार्थ की ओर होगा तो उसकी वाणी का आकर्षण भी उसी की ओर होगा। यही बात पदार्थ की अवस्था के विषय में है। सुनने वाले को वक्ता की विवक्षा समझनी होगी। उसे समझने के लिए उसके पारिपार्श्विक वातावरण, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना होगा। विवक्षा के पांच रूप बनते हैं—

(१) द्रव्य की विवक्षा…दूध में ही मिठास और रूप आदि होते हैं।

(२) पर्याय की विवक्षा…मिठास और रूप आदि ही दूध हैं।

(३) द्रव्य के अस्तित्व मात्र की विवक्षा…दूध है।

(४) पर्याय के अस्तित्व मात्र की विवक्षा…मिठास है रूप आदि हैं।

(५) धर्म-धर्मि-सम्बन्ध की विवक्षा...दूध का मिठास, रूप आदि।

इनके वर्गीकरण से दो दृष्टियां बनती हैं :—

(१) द्रव्य प्रधान या अभेद-प्रधान।

(२) पर्याय प्रधान या भेद-प्रधान।

नय का रहस्य यह है कि हम दूसरे व्यक्ति के विचारों को उसी के अभिप्रायानुकूल समझने का यत्न करें।

नय का स्वरूप

कथनीय वस्तु दो हैं :—

(१) पदार्थ-द्रव्य।

(२) पदार्थ की अवस्थाएं—पर्याय।

अभिप्राय व्यक्त करने के साधन दो हैं :—

(१) अर्थ।

(२) शब्द।

अर्थ के प्रकार दो हैं :—

(१) सामान्य।

(२) विशेष।

शब्द की प्रवृत्ति के हेतु दो हैं :—

(१) रूढ़ि।

(२) व्युत्पत्ति।

व्युत्पत्ति प्रयोग के कारण दो हैं :—

(१) सामान्य निमित्त।

(२) तत्कालभावी निमित्त।

(१) नैगम—सामान्य-विशेष के संयुक्त रूप का निरूपण नैगम नय है।

(२) संग्रह—केवल सामान्य का निरूपण संग्रह नय है।

(३) व्यवहार—केवल विशेष का निरूपण व्यवहार नय है।

(४) ऋजुसूत्र—क्षणवर्ती विशेष का निरूपण ऋजुसूत्र नय है।

(५) शब्द—रूढ़ि से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय-शब्द नय है।

(६) समभिरूढ़—व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय समभिरूढ़ नय है।

(७) एवम्भूत—वार्तमानिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय एवम्भूत नय है।

इस प्रकार सात नयों में शाब्दिक और आर्थिक, वास्तविक और व्यावहारिक द्राव्यिक और पार्यायिक, सभी प्रकार के अभिप्राय संगृहीत हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक नय का विशद रूप समझना आवश्यक है।

नैगम

तादात्म्य की अपेक्षा से ही सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन किया जाता है। यह दृष्टि नैगमनय है। यह उभयग्राही दृष्टि है। सामान्य और विशेष, दोनो इसके विषय हैं। इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एक देश का बोध होता है। सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ हैं—इस कणादहृष्टि को जैन दर्शन स्वीकार नही करता। कारण, सामान्य रहित विशेष और विशेष-रहित सामान्य की कहीं भी प्रतीति नही होती। ये दोनो पदार्थ के धर्म हैं। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल में जो अनुवृत्ति होती है, वह सामान्य-अंश है और जो व्यावृत्ति होती है, वह विशेप-अंश। केवल अनुवृत्ति रूप या केवल व्यावृत्ति-रूप कोई पदार्थ नही होता। जिस पदार्थ की जिस समय दूसरों से अनुवृत्ति मिलती है, उसकी उसी समय दूसरों से व्यावृत्ति भी मिलती है।

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण से हो सकता है। अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है। नय का विषय उसका एकांश है। नैगम नय बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करने वाला है, फिर भी प्रमाण नहीं है। प्रमाण में सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है। यहाँ सामान्य के मुख्य होने पर विशेष गौण रहेगा और विशेप के मुख्य बनने पर सामान्य गौण। दोनों को यथा स्थान मुख्यता और गौणता मिलती है। संग्रहनय केवल सामान्य अंश का ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेप अंश का। नैगम नय दोनों (सामान्य-विशेप) की एकाश्रयता का साधक है।

प्रमाण की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। उससे भेदाभेद का युगपत् ग्रहण होता है।

नैगमनय के अनुसार द्रव्य और पर्याय का सम स्थिति मे युगपत् ग्रहण नही होता। अभेद का ग्रहण भेद को गौण बना डालता है और भेद का ग्रहण अभेद को। मुख्य प्ररूपणा एक की होगी, प्रमाता जिसे चाहेगा उसकी होगी। आनन्द चेतन का धर्म है। चेतन में आनन्द है—इस विवक्षा मे आनन्द मुख्य बनता है, जो कि भेद है—चेतन की ही एक विशेष अवस्था है। "आनन्दी जीव की बात छोड़िए"—इस विवक्षा मे जीव मुख्य है, जो कि अभेद है—आनन्द जैसी अनन्त सूक्ष्म-स्थूल विशेष अवस्थाओं का अधिकरण है।

नैगमनय भावों की अभिव्यञ्जना का व्यापक स्रोत है। "आनन्द छा रहा है"—यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। इसमें केवल धर्म या भेद की अभिव्यक्ति होती है। "आनन्द कहाँ?"—यह उससे व्यक्त नही होता। "द्रव्य एक है"—यह संग्रह नय का अभिप्राय है किन्तु द्रव्य में क्या है?—यह नहीं जाना जाता। "आनन्द चेतन में होता है" और उसका अधिकरण चेतन ही है, यह दोनों के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। इस प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि में जो भेदाभेद-सम्बन्ध होता है, उसकी व्यञ्जना इसी दृष्टि से होती है। पराक्रम और पराक्रमी को सर्वथा एक माना जाए तो वे वस्तु नही हो सकते। यदि उन्हे सर्वथा दो माना जाए तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे दो हैं—यह भी प्रतीति-सिद्ध है, उनमें सम्बन्ध है—यह भी प्रतीति-सिद्ध है किन्तु हम दोनों को शब्दाश्रयी ज्ञान द्वारा एक साथ जान सके या कह सकें यह प्रतीति-सिद्ध नहीं, इसलिए नैगमदृष्टि है, जो अमुक धर्म के साथ अमुक धर्म का सम्बन्ध बताकर यथा समय एक दूसरे की मुख्य स्थिति को ग्रहण कर सकती है। "पराक्रमी हनुमान्" इस वर्णन शैली में हनुमान् की मुख्यता होगी। हनुमान् के पराक्रम का वर्णन करते समय उसकी (पराक्रम की) मुख्यता अपने आप हो जाएगी। वर्णन की यह सहज शैली ही इस दृष्टि का आधार है।

इसका दूसरा आधार लोक-व्यवहार भी है। लोक-व्यवहार में शब्दों के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं, उन सबको यह दृष्टि मान्य करती है।

तीसरा आधार संकल्प है। संकल्प की सत्यता नैगम दृष्टि पर निर्भर है। भूत को वर्तमान मानना—जो कार्य हो चुका, उसे हो रहा है—ऐसे मानना सत्य नहीं है। किन्तु संकल्प या आरोप की दृष्टि मे सत्य हो सकता है।

इसके तीन रूप बनते हैं :—

१—भूत पर्याय का वर्तमान पर्याय के रूप में स्वीकार (अतीत में वर्तमान का संकल्प)······भूतनैगम।

२—अपूर्ण वर्तमान का पूर्ण वर्तमान के रूप में स्वीकार (अनिष्पन्नक्रिय वर्तमान में निष्पन्नक्रिय वर्तमान का सकल्प)······वर्तमान नैगम।

३—भविष्य पर्याय का भूतपर्याय के रूप में स्वीकार (भविष्य में भूत का संकल्प)······भावीनैगम।

जयन्ती दिन मनाने की सत्यता भूत नैगम की दृष्टि मे है। रोटी पकानी शुरु की है। किसी ने पूछा आज क्या पकाया है? उत्तर मिलता है···"रोटी पकायी है।" रोटी पकी नहीं, पक रही है फिर भी वर्तमान नैगम की अपेक्षा "पकाई है" ऐसा कहना सत्य है।

क्षमता और योग्यता की अपेक्षा अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कहा जाता है। यह तभी सत्य होता है जब हम, भावी का भूत में उपचार है, इस अपेक्षा को न भूलें।

नैगम के तीन भेद होते हैं :—

(१) द्रव्य-नैगम।

(२) पर्याय-नैगम।

(३) द्रव्य-पर्याय नैगम।

इनके कार्य का क्रम यह है :—

(१) दो वस्तुओं का ग्रहण।

(२) दो अवस्थाओं का ग्रहण।

(३) एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगम नय जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है। जैन दर्शन के अनुसार

नानात्व और एकत्व दोनो सत्य हैं। एकत्व निरपेक्ष-नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व—ये दोनो मिथ्या है। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की अपेक्षा से सब गायो मे एकत्व है। पशुत्व की अपेक्षा से गायो और अन्य पशुओ में एकत्व है। जीवत्व की अपेक्षा से पशु और अन्य जीवो में एकत्व है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और अजीव में एकत्व है। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है। आपेक्षिक-सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर जाते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण भेद-वादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहाँ अस्तित्व की अपेक्षा है, वहाँ विश्व एक है किन्तु चैतन्य और अचैतन्य, जो अत्यन्त विरोधी धर्म हैं, की अपेक्षा विश्व एक नही है। उसके दो रूप हैं—(१) चेतन जगत् (२) अचेतन जगत्। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु स्वस्थ चैतन्य की अपेक्षा चेतन एक नहीं है। वे अनन्त हैं। चेतन का वास्तविक रूप है—स्वात्म-प्रतिष्ठान। प्रत्येक पदार्थ का शुद्ध रूप, यही स्वप्रतिष्ठान है। वास्तविक रूप भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। स्व में या व्यक्ति मे चैतन्य की पूर्णता है। वह एक व्यक्ति—चेतन अपने समान अन्य चेतन व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न नही होता, इसलिए उनमे सजातीयता या सापेक्षता है। यही तथ्य आगे बढ़ता है।

चेतन और अचेतन में भी सर्वथा भेद ही नही, अभेद भी है। भेद है वह चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से है। द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परस्परा-नुगमत्व आदि-आदि असंख्य अपेक्षाओ से उनमे अभेद है।

दूसरी दृष्टि से उनमें सर्वथा अभेद ही नहीं भेद भी है। अभेद अस्तित्व आदि की अपेक्षा से है, चैतन्य की अपेक्षा से भेद भी है। उनमे स्वरूप-भेद है, इसलिए दोनो की अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमे अभेद भी है, इसलिए दोनो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक आदि-आदि सम्बन्ध हैं।

सग्रह और व्यवहार

अभेद और भेद मे तादात्म्य सम्बन्ध है—एकात्मकता है। सम्बन्ध दो से होता है। केवल भेद या केवल अभेद मे कोई सम्बन्ध नही हो सकता।

अभेद का—

शुद्धरूप है—सत्तारूप सामान्य या निर्विकल्पक महासत्ता।

अशुद्धरूप है—अवान्तर सामान्य (सामान्यविशेषोभयात्मक सामान्य)

भेद का—

(१) शुद्धरूप है—अन्त्यस्वरूप—व्यावृत्ति।

(२) अशुद्धरूप है—अवान्तर-विशेष।

संग्रह समन्वय की दृष्टि है और व्यवहार विभाजन की। ये दोनों दृष्टियाँ समानान्तर रेखा पर चलने वाली हैं किन्तु इनका गति-क्रम विपरीत है। संग्रह-दृष्टि सिमटती चलती है, चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहार दृष्टि खुलती चलती है—चलते-चलते अनन्त हो जाती है।

यदि सब पदार्थों में सर्वथा अभेद ही होता—वास्तविक एकता ही होती तो व्यवहार नय की (भेद को वास्तविक मानने की) बात त्रुटिपूर्ण होती। इसी प्रकार सब पदार्थों में सर्वथा भेद ही होता, वास्तविक अनेकता ही होती तो संग्रह-दृष्टि की (अभेद को वास्तविक मानने की) बात सत्य नही होती।

चैतन्य गुण जैसे चेतन व्यक्तियो में सामञ्जस्य स्थापित करता है, वैसे ही यदि यही गुण अचेतन व्यक्तियो का चेतन व्यक्तियो के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता तो चैतन्य धर्म की अपेक्षा चेतन और अचेतन को अत्यन्त विरोधी मानने की स्थिति नही आती। चेतन और अचेतन में अन्य धर्मों द्वारा सामञ्जस्य होने पर भी चेतन धर्म द्वारा सामञ्जस्य नही होता। इसलिए भेद भी तात्त्विक है। सत्ता, द्रव्यत्व आदि धर्मों के द्वारा चेतन और अचेतन मे यदि किसी प्रकार का सामञ्जस्य नही होता, तो दोनो का अधिकरण एक जगत् नहीं होता। वे स्वरूप से एक नही हैं, अधिकरण से एक हैं, इसलिए अभेद भी तात्त्विक है।

अभेद और भेद की तात्त्विकता के कारण भिन्न-भिन्न है। सत्ता या अस्तित्व अभेद का कारण है, यह कभी भेद नही डालता। हमारी अभेदपरक-दृष्टि इसके सहारे बनती है।

विशेष धर्म या नास्तित्व (जैसे चेतन का चैतन्य) भेद का कारण है। इसके सहारे भेद-परक दृष्टि चलती है।

वस्तु का जो समान परिणाम है, वही सामान्य है। समान परिणाम असमान परिणाम के बिना हो नही सकता।

असमानता के बिना एकता होगी, समानता नही। वह असमान परिणाम ही विशेष है [३१]।

नैगम दृष्टि अभेद और भेद शक्तियों की एकाश्रयता के द्वारा पदार्थ को अभेदक और भेदक -धर्मों का समन्वय मानकर अभेद और भेद की तात्त्विकता का समर्थन करती है। संग्रह और व्यवहार—ये दोनो क्रमशः अभेद और भेद को मुख्य मानकर इनकी वास्तविकता का समर्थन करने वाली दृष्टियाँ हैं।

व्यवहार नय

यह (१) उपचार-बहुल और (२) लौकिक होता है।

(१) उपचार-बहुल—यहाँ गौण-वृत्ति से उपचार प्रधान होता है। जैसे—पर्वत जल रहा है—यहाँ प्रचुर-दाह प्रयोजन है। मार्ग चल रहा है—यहाँ नैरन्तर्य प्रतीति प्रयोजन है।

(२) लौकिक-भौरा काला है।

ऋजुसूत्र

यह वर्तमानपरक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नही करती। अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकती है। भविष्य की क्रिया प्रारम्भ नही होती। इसलिए भूतकालीन वस्तु और भविष्यकालीन वस्तु न तो अर्थक्रिया-समर्थ (अपना काम करने मे समर्थ) होती है और न प्रमाण का विषय वनती है। वस्तु वही है जो अर्थक्रिया-समर्थ हो, प्रमाण का विषय वने। ये दोनो वातें वार्तमानिक वस्तु में ही मिलती हैं। इसलिए वही तात्त्विक सत्य है। अतीत और भविष्य मे 'तुला' तुला नही है। 'तुला' उसी समय तुला है, जब उससे तोला जाता है।

इसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल का आधार एक द्रव्य नही हो सकता। साध्य-अवस्था और साधन अवस्था का काल भिन्न होगा, तब भिन्न काल का आधारभूत द्रव्य अपने आप भिन्न होगा। दो अवस्थाएं समन्वित नही होती। भिन्न अवस्थावाचक पदार्थों का समन्वय नही होता। इस प्रकार यह पौर्वापर्य, कार्य-कारण आदि अवस्थाओ की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करने वाली दृष्टि है।

शब्दनय

शब्दनय भिन्न-भिन्न लिङ्ग, वचन आदि युक्त शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है। व्याकरण की लिङ्ग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नही करता। इसका अभिप्राय यह है :—

(१) पुंलिङ्ग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिङ्ग का वाच्य अर्थ नहीं वन सकता। 'पहाड़' का जो अर्थ है वह 'पहाड़ी' शब्द व्यक्त नही कर सकता। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग का वाच्य अर्थ पुंल्लिंग का वाच्य नहीं वनता। 'नदी' के लिए

'नद' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। फलित यह है—जहाँ शब्द का लिङ्ग-भेद होता है, वहाँ अर्थ-भेद होता है।

(२) एक वचन का जो वाच्य अर्थ है, वह बहुवचन का वाच्यार्थ नही होता। बहुवचन का वाच्य-अर्थ एक वचन का वाच्यार्थ नही बनता। "मनुष्य है" और "मनुष्य हैं" ये दोनो एक ही अर्थ के वाचक नही बनते। एकत्व की अवस्था बहुत्व की अवस्था से भिन्न है। इस प्रकार काल, कारक रूप का भेद अर्थ-भेद का प्रयोजक बनता है।

यह दृष्टि शब्द-प्रयोग के पीछे छिपे हुए इतिहास को जानने में बडी सहायक है। संकेत-काल में शब्द, लिङ्ग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ जैसी बाद में होती है। सामान्यतः हम 'स्तुति' और 'स्तोत्र' का प्रयोग एकार्थक करते हैं किन्तु वस्तुतः ये एकार्थक नही हैं। एक श्लोकात्मक भक्ति काव्य 'स्तुति' और बहु श्लोकात्मक-भक्ति काव्य 'स्तोत्र' कहलाता है[३२]। 'पुत्र' और 'पुत्री' के पीछे जो लिङ्ग-भेद की, 'तुम' और 'आपके' पीछे जो वचन-भेद की भावना है, वह शब्द के लिङ्ग और वचन-भेद द्वारा व्यक्त होती है। शब्द-नय शब्द के लिङ्ग, वचन आदि के द्वारा व्यक्त होने वाली अवस्था को ही तात्त्विक मानता है। एक ही व्यक्ति को स्थायी मानकर कभी 'तुम' और कभी 'आप' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु शब्दनय उन दोनो को एक ही व्यक्ति स्वीकार नही करता। 'तुम' का वाच्य व्यक्ति लघु या प्रेमी है, जब कि 'आप' का वाच्य गुरु या सम्मान्य है।

समभिरूढ़

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में संक्रमण नही होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। स्थूल दृष्टि से हम अनेक वस्तुओं के मिश्रण या सहस्थिति को एक वस्तु मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में होती है।

जैन दर्शन की भाषा में अनेक वर्गणाएं और विज्ञान की भाषा में अनेक गैसें (Gases) आकाश-मडल में व्याप्त हैं किन्तु एक साथ व्याप्त रहने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप में हैं। समभिरूढ़ का अभिप्राय यह है कि जो

वस्तु जहाँ आरूढ़ है, उसका वहीं प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेपण के लिए बहुत उपयोगी है। स्थूल दृष्टि मे घट, कुट, कुम्भ का अर्थ एक है। समभिरूढ इसे स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार 'घट' शब्द का ही अर्थ घट वस्तु है, कुट शब्द का अर्थ घट वस्तु नही; घट का कुट में संक्रमण अवस्तु है। 'घट' वह वस्तु है, जो माथे पर रखा जाए। कहीं बटा कही चौटा और कहीं संकड़ा—यूं जो कुटिल आकार वाला है, वह 'कुट' है [33]। माथे पर रखी जाने योग्य अवस्था और कुटिल आकृति की अवस्था एक नहीं है। इसलिए दोनो को एक शब्द का अर्थ मानना भूल है। अर्थ की अवस्था के अनुरूप शब्दप्रयोग और शब्दप्रयोग के अनुरूप अर्थ का बोध हो, तभी सही व्यवस्था हो सकती है। अर्थ की शब्द के प्रति और शब्द की अर्थ के प्रति नियामकता न होने पर वस्तु सांकर्य हो जाएगा। फिर कपड़े का अर्थ घडा और घडे का अर्थ कपड़ा न समझने के लिए नियम क्या होगा। कपडे का अर्थ जैसे तन्तु-समुदाय है, वैसे ही मृण्मय पात्र भी हो जाए और सब कुछ हो जाए तो शब्दानुसारी प्रवृत्ति-निवृत्ति का लोप हो जाता है, इसलिए शब्द को अपने वाच्य के प्रति सच्चा होना चाहिए। घट अपने अर्थ के प्रति सच्चा रह सकता है, पट या कुट के अर्थ के प्रति नही। यह नियामकता या सच्चाई ही इसकी मौलिकता है।

एवम्भूत

समभिरूढ़ मे फिर भी स्थितिपालकता है। वह अतीत और भविष्य की क्रिया को भी शब्द-प्रयोग का निमित्त मानता है। यह नय अतीत और भविष्य की क्रिया से शब्द और अर्थ के प्रति नियम को स्वीकार नहीं करता। सिर पर रखा जाएगा, रखा गया इसलिए वह घट है, यह नियमक्रिया शून्य है। घट वह है, जो माथे पर रखा हुआ है। इसके अनुसार शब्द अर्थ की वर्तमान-चेष्टा का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। यह शब्द को अर्थ का और अर्थ को शब्द का नियामक मानता है। घट शब्द का वाच्य अर्थ वही है, जो 'पानी लाने के लिए मस्तक 'पर रक्खा हुआ है—वर्तमान प्रवृत्तियुक्त है। घट शब्द भी वही है, जो घट-क्रियायुक्त अर्थ का प्रतिपादन करे।

विचार की आधारभित्ति

विचार निराश्रय नहीं होता। उसके अवलम्बन तीन हैं—(१) ज्ञान (२) अर्थ (३) शब्द।

(१) जो विचार संकल्प-प्रधान होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगम नय ज्ञानाश्रयी विचार है।

(२) अर्थाश्रयी विचार वह होता है, जो अर्थ को प्रधान मानकर चले। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—यह अर्थाश्रयी विचार है। यह अर्थ के अभेद और भेद की मीमांसा करता है।

(३) शब्दाश्रयी विचार वह है, जो शब्द की मीमासा करे। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीनो शब्दाश्रयी विचार हैं।

इनके आधार पर नयो की परिभाषा यूँ होती है :—

(१) नैगम—संकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(२) संग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(३) व्यवहार—व्यक्ति की " " " "

(४) ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(५) शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(६) समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(७) एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

नयविभाग……सात दृष्टिविन्दुअर्थाश्रित ज्ञान के चार रूप बनते हैं।

(१) सामान्य-विशेष उभयात्मक के अर्थ नैगमदृष्टि।

(२) सामान्य या अभिन्न अर्थ…संग्रह-दृष्टि

(३) विशेष या भिन्न अर्थ…व्यवहार-दृष्टि

(४) वर्तमानवर्ती विशेष अर्थ…ऋजुसूत्र दृष्टि

पहली दृष्टि के अनुसार अभेदशून्य भेद और भेदशून्य अभेद रूप अर्थ

नहीं होता। जहाँ अभेद रूप प्रधान बनता है, वहाँ भेदरूप गौण बन जाता है और जहाँ भेदरूप मुख्य बनता है, वहाँ अभेदरूप गौण। अभेद और भेद, जो पृथक् प्रतीत होते हैं, उसका कारण दृष्टि का गौण-मुख्य-भाव है, किन्तु उनके स्वरूप की पृथकता नहीं।

दूसरी दृष्टि में केवल अर्थ के अनन्त धर्मों के अभेद की विवक्षा मुख्य होती है। यह भेद से अभेद की ओर गति है। इसके अनुसार पदार्थ में सह-भावी और क्रमभावी अनन्त-धर्म होते हुए भी वह एक माना जाता है। सजातीय पदार्थ संख्या में अनेक, असंख्य या अनन्त होने पर भी एक माने जाते हैं। विजातीय पदार्थ पृथक् होते हुए भी पदार्थ की सत्ता में एक बन जाते हैं। यह मध्यम या अपर संग्रह बनता है। पर या उत्कृष्ट संग्रह में विश्व एक बन जाता है। अस्ति-सामान्य से परे कोई पदार्थ नहीं। अस्तित्व की सीमा में सब एक बन जाते हैं, फलतः विश्व एक सद्-अविशेष या सत्-सामान्य बन जाता है।

यह दृष्टि दो धर्मों की समानता से प्रारम्भ होती है और समूचे जगत् की समानता में इसकी परि समाप्ति होती है अभेद चरम कोटि तक नहीं पहुँचता, तब तक अपर-संग्रह चलता है।

तीसरी दृष्टि ठीक इससे विपरीत चलती है। वह अभेद से भेद की ओर जाती है। इन दोनों का क्षेत्र तुल्य है। केवल दृष्टि-भेद रहता है। दूसरी दृष्टि सब में अभेद ही अभेद देखती है और इसे सब में भेद ही भेद दीख पड़ता है। दूसरी अभेदांश-प्रधान या निश्चय-दृष्टि है, यह है भेदांश या उपयोगिता प्रधान दृष्टि। द्रव्यत्व से कुछ नहीं बनता, उपयोग द्रव्य का होता है। गोत्व दूध नहीं देता, दूध गाय देती है।

चौथी दृष्टि चरम भेद की दृष्टि है। जैसे पर-संग्रह में अभेद चरम कोटि तक पहुँच जाता है—विश्व एक बन जाता है, वैसे ही इसमें भेद चरम बन जाता है। अपर-संग्रह और व्यवहार के ये दोनों सिरे हैं। यहाँ से इनका उद्गम होता है।

यहाँ एक प्रश्न के लिए अवकाश है। अपर-संग्रह को अलग नय नहीं

माना, तब ऋजुसूत्र अलग क्यो ? संग्रह के अपर और पर—ये दो भेद हुए, वैसे ही व्यवहार के भी दो भेद हो जाते—अपर-व्यवहार और पर-व्यवहार।

इस प्रश्न का समाधान ढूंढने के लिए चलते हैं, तब हमें दूसरी दृष्टि का आलोक अपने आप मिल जाता है। अर्थ का अन्तिम भेद परमाणु या प्रदेश है। उस तक व्यवहारनय चलता है। चरम भेद का अर्थ होता है—वर्तमानकालीन अर्थ-पर्याय—क्षणमात्रस्थायी पर्याय। पर्याय पर्यायार्थिक नय का विषय बनता है। व्यवहार ठहरा द्रव्यार्थिक। द्रव्यार्थिक-दृष्टि के सामने पर्याय गौण होती है, इसलिए पर्याय उसका विषय नही बनती। यही कारण है कि व्यवहार से ऋजुसूत्र को स्वतन्त्र मानना पड़ा। नय के विषय-विभाग पर दृष्टि डालिए, यह अपने आप स्पष्ट हो जाएगा द्रव्यार्थिक नय तीन हैं[३४]—(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार पर्यायार्थिक नय हैं। ऋजुसूत्र द्रव्य-पर्यायार्थिक विभाग मे जहाँ पयार्यार्थिक में जाता है, वहाँ अर्थ शब्द विभाग मे अर्थ नय में रहता है। व्यवहार दोनो जगह एक कोटिक है।

दो परम्पराएं

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के विभाग मे दो परम्पराए बनती हैं, एक सैद्धान्तिको की और दूसरी तार्किको की। सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी "जिनभद्रगणी" क्षमाश्रमण हैं। उनके अनुसार पहले चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष तीन पर्यायार्थिक। दूसरी परम्परा के प्रमुख हैं "सिद्धसेन"। उनके अनुसार पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक[३५]।

सैद्धान्तिक ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानते हैं। उसका आधार अनुयोग द्वार का निम्न सूत्र है।

"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सय पुहुत्त नेच्छइ[३६]—

इसका भाव यह है—ऋजुसूत्र की दृष्टि मे उपयोग-शून्य व्यक्ति द्रव्यावश्यक है। सैद्धान्तिक परम्परा का मत यह है कि यदि ऋजुसूत्र को द्रव्यग्राही न माना जाए तो उक्त सूत्र मे विरोध आयेगा।

तार्किक मत के अनुसार अनुयोग द्वार में वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य पद का उपचार किया गया है [३७]। इसलिए वहाँ कोई विरोध नहीं आता। सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसे द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप में उपचार और वास्तविक दृष्टि में वर्तमान पर्याय मान उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। मुख्य द्रव्य कोई नहीं मानता। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनों में अपेक्षाभेद है, तात्त्विक विरोध नहीं।

द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही मानता है, पर्याय को नहीं मानता, तब ऐसा लगता है—यह दुर्नय होना चाहिए। नय में दूसरे का प्रतिक्षेप नहीं होना चाहिए। वह मध्यस्थ होता है। बात सही है, किन्तु ऐसा है नहीं। द्रव्यार्थिक नय पर्याय को अस्वीकार नहीं करता, पर्याय की प्रधानता को अस्वीकार करता है। द्रव्य के प्रधान्यकाल मे पर्याय की प्राधानता होती नही, इसलिए यह उचित है [३८]। यही बात पर्यायार्थिक के लिए है। वह पर्याय-प्रधान है, इसलिए वह द्रव्य का प्राधान्य अस्वीकार करता है। यह अस्वीकार मुख्य दृष्टि का है, इसलिए यहाँ असत्-एकान्त नही होता।

पर्यायार्थिकनय

ऋजुसूत्र का विषय है—वर्तमान कालीन अर्थपर्याय। शब्दनय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। इस दृष्टि के अनुसार अतीत और वर्तमान की पर्याय एक नही होती।

समभिरूढ़ निरुक्ति-भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसकी दृष्टि मे घट और कुम्भ दो हैं।

एवम्भूत वर्तमान क्रिया मे परिणत अर्थ को ही तद्शब्द वाच्य मानता है। ऋजु सूत्र वर्तमान पर्याय को मानता है। तीनो शब्दनय शब्दप्रयोग के अनुसार अर्थभेद (भिन्न-अर्थ-पर्याय) स्वीकार करते है, इसलिए ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं। इनमें द्रव्यांश गौण रहता है और पर्यायांश मुख्य।

अर्थनय और शब्दनय

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीन शब्द नय हैं। यं तो सातो नय ज्ञानात्मक

और शब्दात्मक दोनो हैं किन्तु यहाँ उनकी शब्दात्मकता से प्रयोजन नही। पहले चार नयो में शब्द का काल, लिङ्ग, निरुक्ति आदि बदलने पर अर्थ नही बदलता, इसलिए वे अर्थनय हैं। शब्दनयो में शब्द का कालादि बदलने पर अर्थ बदल जाता है, इसलिए ये शब्दनय कहलाते हैं।

नयविभाग का आधार

अर्थ या अभेद संग्रह दृष्टि का आधार है और भेद व्यवहार दृष्टि का। संग्रह भेद को नही मानता और व्यवहार अभेद को। नैगम का आधार है— अभेद और भेद एक पदार्थ में रहते हैं, ये सर्वथा दो नही हैं किन्तु गौण मुख्य भाव दो हैं। यह अभेद और भेद दोनों को स्वीकार करता है, एक साथ एक रूप में नही[३९]। यदि एक साथ धर्म-धर्मी दोनो को या अनेक धर्मों को मुख्य मानता तो यह प्रमाण बन जाता किन्तु ऐसा नही होता। इस दृष्टि में मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है किन्तु प्रधान बनकर नही। कभी धर्मी मुख्य बन जाता है, कभी धर्म और दो धर्मों की भी यही गति है। इसके राज्य में किसी एक के ही मस्तक पर मुकुट नहीं रहता। वह अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार बदलता रहता है।

ऋजुसूत्र का आधार है—चरमभेद। यह पहले और पीछे को वास्तविक नही मानता। इसका सूत्रण बड़ा सरल है। यह सिर्फ वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है।

शब्द के भेद-रूप के अनुसार अर्थ का भेद होता है—यह शब्दनय का आधार है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न है, एक अर्थ के दो वाचक नही हो सकते— यह समभिरूढ़ की मूल भित्ति है।

शब्दनय प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न नही मानता। उसके मतमें एक शब्द के जो अनेक रूप बनते हैं, वे तभी बनते हैं जब कि अर्थ में भेद होता है। यह दृष्टि उससे सूक्ष्म है। इसके अनुसार—शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद होता ही है।

एवम्भूत का अभिप्राय विशुद्धतम है। इसके अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढ़ अर्थ की

क्रिया में अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है—वाच्य और वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु यह केवल वाच्य-वाचक के प्रयोग को वर्तमान काल में ही स्वीकार करता है। क्रिया हो चुकने पर और क्रिया की संभाव्यता पर अमुक अर्थ का अमुक वाचक है—ऐसा हो नही सकता। फलित रूप में सात नयो के विषय इस प्रकार वनते है :—

(१) नैगम……अर्थ का अभेद और भेद और दोनो।

(२) संग्रह……अभेद।

 (क) परसंग्रह……चरम-अभेद।

 (ख) अपरसंग्रह…:अवान्तर-अभेद।

(३) व्यवहार……भेद-अवान्तर-भेद।

(४) ऋजुसूत्र……चरम-भेद।

(५) शब्द·· ……भेद।

(६) समभिरूढ़ ··भेद।

(७) एवम्भूत……भेद।

इनमें एक अभेददृष्टि है, भेद दृष्टियां पांच-हैं और एक दृष्टि संयुक्त है। संयुक्त दृष्टि इस बात की सूचक है कि अभेद में ही भेद और भेद मे ही अभेद है। ये दोनो सर्वथा दो या सर्वथा एक या अभेद तात्त्विक और भेद काल्पनिक अथवा भेद तात्त्विक और अभेद काल्पनिक, यू नही होता। जैन दर्शन को अभेद मान्य है किन्तु भेद के अभाव में नहीं। चेतन और अचेतन (आत्मा और पुद्गल) दोनो पदार्थ सत् हैं, इसलिए एक हैं—अभिन्न हैं। दोनो मे स्वभाव-भेद है, इसलिए वे अनेक हैं—भिन्न हैं। यथार्थ यह है कि अभेद और भेद दोनों तात्त्विक हैं। कारण यह है—भेद शून्य अभेद मे अर्थक्रिया नही होती—अर्थ की क्रिया विशेप दशा मे होती है और अभेद शून्य भेद में भी अर्थक्रिया नहीं होती कारण और कार्य का सम्बन्ध नही जुड़ता। पूर्व क्षण उत्तर-क्षण का कारण तभी वन सकता है जव कि दोनो मे एक अन्वयी माना जाए (एक ध्रुव या अभेदांश माना जाए)। इसलिए जैन दर्शन अभेदाश्रित-भेद और भेदाश्रित-अभेद को स्वीकार करता है।

नय के विषय का अल्प-बहुत्व

ये सातों दृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष हैं। एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को विविध रूप से ग्रहण करने वाली हैं। इनका चिन्तन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ता है, इसलिए इनका विषय क्रमशः भूयस् से अल्प होता चलता है।

नैगम संकल्पग्राही है। संकल्प सत् और असत् दोनों का होता है, इसलिए भाव और अभाव—ये दोनों इसके गोचर बनते हैं।

संग्रह का विषय इससे थोड़ा है, केवल सत्ता मात्र है।

व्यवहार का विषय, सत्ता का एक अंश—भेद है।

ऋजुसूत्र का विषय भेद का चरम अंश—वर्तमान क्षण है, जब कि व्यवहार का त्रिकालवर्ती वस्तु है।

शब्द का विषय काल आदि के भेद से भिन्न वस्तु है, जब कि ऋजुसूत्र काल आदि का भेद होने पर भी वस्तु को अभिन्न मानता है।

समभिरूढ़ का विषय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का भिन्न अर्थ है, जब कि शब्दनय व्युत्पत्ति भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दों का एक अर्थ मानता है।

एवम्भूत का विषय क्रिया-भेद के अनुसार भिन्न अर्थ है, जब कि समभिरूढ़ क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न स्वीकार करता है।

इस प्रकार क्रमशः इनका विषय परिमित होता गया है। पूर्ववर्ती नय उत्तरवर्ती नय के गृहीत अंश को लेता है, इसलिए पहला नय कारण और दूसरा नय कार्य बन जाता है।

नय की शब्द योजना

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने में सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। आचार्य अकलंक ने दोनों जगह "स्यात्" शब्द जोड़ा है[४०] —"स्यात् जीव एव" और "स्यात् अस्त्येव जीव।" पहला प्रमाण वाक्य है, दूसरा नयवाक्य। पहले में अनन्त-धर्मात्मक जीव का बोध होता है, दूसरे में प्रधानतया जीव के अस्तित्वधर्म का। पहले में 'एवकार' धर्मी के वाचक के साथ जुड़ता है, दूसरे में धर्म के वाचक के साथ।

आचार्य मलयगिरि नयवाक्य को मिथ्या मानते हैं [४१]। इनकी दृष्टि में नयान्तर—निरपेक्ष नय अखण्ड वस्तु का ग्राहक नहीं होने के कारण मिथ्या है। नयान्तर-सापेक्ष नय 'स्यात्' शब्द से जुड़ा हुआ होगा, इसलिए वह वास्तव में नय-वाक्य नही, प्रमाण-वाक्य है। इसलिए उनके विचारानुसार 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रमाण-वाक्य के साथ ही करना चाहिए।

सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा में भी नय-वाक्य का रूप "स्यादस्त्येव" यही मान्य रहा है [४२]।

आचार्य हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि ने नय को केवल "सत्" शब्द गम्य माना है। उन्होने 'स्यात्' का प्रयोग केवल प्रमाण-वाक्य के साथ किया है। "अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका" के अनुसार

सत् एव—दुर्नय

सत्—नय

स्यात् सत्—प्रमाणवाक्य है [४३]।

"प्रमाणनयतत्वालोक" में नय, दुर्नय का रूप 'द्वात्रिंशिका' जैसा ही है। प्रमाण वाक्य के साथ 'एव' शब्द जोड़ा है, इतना सा अन्तर है। पंचास्तिकाय की टीका में 'एव' शब्द को दोनों वाक्य-पद्धतियों से जोड़ा है, जब कि प्रवचनसार की टीका में सिर्फ नय-सप्तभङ्गी के लिए 'एवकार' का निर्देश किया है [४४]। वास्तव में 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-द्योतन के लिए है और 'एव' शब्द अन्य धर्मों का व्यवच्छेद करने के लिए। केवल 'एवकार' के प्रयोग में ऐकान्तिकता का दोष आता है। उसे दूर करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक बनता है। नयवाक्य में विवक्षित धर्म के अतिरिक्त धर्मों में उपेक्षा की मुख्यता होती है, इसलिए कई आचार्य उसके साथ 'स्यात्' और 'एव' का प्रयोग आवश्यक नही मानते। कई आचार्य विवक्षित धर्म की निश्चायकता के लिए 'एव' और शेष धर्मों का निराकरण न हो, इसलिए 'स्यात्' इन दोनों के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं।

नय की त्रिभंगी या सप्तभंगी

(१) सोना एक है……(द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से)

(२) सोना अनेक है……(पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से)

(३) सोना क्रमशः एक है, अनेक है……(दो धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन)

(४) सोना युगपत् "एक अनेक हैं"—यह अवक्तव्य है· (दो धर्मों का एक साथ प्रतिपादन असम्भव)

(५) सोना एक है—अवक्तव्य है।
(६) सोना अनेक है—अवक्तव्य है।
(७) सोना एक, अनेक—अवक्तव्य है।
{ एक साथ दो धर्म नही कहे जाते, फिर भी उनके साथ एकता अनेकता का प्रतिपादन हो सकता है।

प्रकारान्तर से ४५:—

(१) कुम्भ है · एक देश में स्व-पर्याय से।

(२) कुम्भ नही है·· एक देश में पर-पर्याय से।

(३) कुम्भ अवक्तव्य है···एक देश मे स्व-पर्याय से, एक देश मे पर-पर्याय से, युगपत् दोनो कहे नही जा सकते।

(४) कुम्भ अवक्तव्य है।

(५) कुम्भ है, कुम्भ अवक्तव्य है।

(६) कुम्भ नहीं है, कुम्भ अवक्तव्य है।

(७) कुम्भ है, कुम्भ नही है, कुम्भ अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभङ्गी में एक धर्म की प्रधानता से धर्मी—वस्तु का प्रतिपादन होता है और नय-सप्तभङ्गी में केवल धर्म का प्रतिपादन होता है। यह दोनो में अन्तर है। सिद्धसेनगणी आदि के विचार मे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य—ये तीन ही भङ्ग विकलादेश हैं, शेष (चार) भङ्ग अनेक धर्मवाली वस्तु के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए वे विकलादेश नही होते। इसके अनुसार नय की त्रिभङ्गी ही बनती है। आचार्य अकलंक, क्षमाश्रमण जिनभद्र आदि ने नय के सातों भङ्ग माने हैं :—

ऐकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद

अपने अभिप्रेत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला विचार दुर्नय होता है। कारण, एक धर्म वाली कोई वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए एक धर्मात्मक वस्तु का आग्रह सम्यग् नहीं है। नय इसलिए सम्यग्-ज्ञान है कि वे एक धर्म का आग्रह

रखते हुए भी अन्य-धर्म-सापेक्ष रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—सापेक्ष नय और निरपेक्ष दुर्नय। वस्तु की जितने रूपों में उपलब्धि है, उतने ही नय हैं। किन्तु वस्तु एक रूप नहीं है, सब रूपों की जो एकात्मकता है, वह वस्तु है।

जैन दर्शन वस्तु की अनेकरूपता के प्रतिपादन में अनेक दर्शनों के साथ समन्वय करता है, किन्तु उनकी एकरूपता फिर उसे दूर या विलग कर देती है।

जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि की अपेक्षा स्वतन्त्र है। अन्य दर्शन की एकान्त-दृष्टियों की अपेक्षा उनका संग्रह है।

"सन्मति" और अनेकान्त-व्यवस्था' के अनुसार नयाभास के उदाहरण यूँ हैं:—

(१) नैगम—नयाभास⋯—नैयायिक, वैशेषिक।
(२) संग्रह—नयाभास⋯⋯वेदान्त, सांख्य।
(३) व्यवहार—नयाभास⋯⋯सांख्य, चार्वाक।
} ४६

(४) ऋजुसूत्र—नयाभास⋯⋯सौत्रान्तिक।
(५) शब्द—नयाभास⋯शब्द-ब्रह्मवाद, वैभाषिक।
(६) समभिरूढ़—नयाभास⋯⋯योगाचार।
(७) एवम्भूत—नयाभास⋯⋯माध्यमिक।
} ४७

(१) जानने वाला व्यक्ति सामान्य, विशेष—इन दोनों में से किसी को, जिस समय जिसकी अपेक्षा होती है, उसी को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता है। इसलिए सामान्य और विशेष की भिन्नता का समर्थन करने में जैन-दृष्टि न्याय, वैशेषिक से मिलती है, किन्तु सर्वथा भेद के समर्थन में उनसे अलग हो जाती है। सामान्य और विशेष में अत्यन्त भेद की दृष्टि दुर्नय है, तादात्म्य की अपेक्षा भेद की दृष्टि नय।

विशेष का व्यापार गौण, सामान्य मुख्य⋯अभेद।

सामान्य का व्यापार गौण, विशेष मुख्य⋯भेद।

(२) सत् और असत् में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्-असत् अंश धर्मी रूप से अभिन्न हैं—सत्-असत् रूप वाली वस्तु एक है। धर्म रूप में वे भिन्न हैं।

विशेष को गौण मान सामान्य को मुख्य मानने वाली दृष्टि नय है, केवल सामान्य को स्वीकार करने वाली दृष्टि दुर्नय। भावैकान्त का आग्रह रखने वाले दर्शन सांख्य और अद्वैत हैं। संग्रह दृष्टि में भावैकान्त और अभावैकान्त (शून्यवाद) दोनों का सापेक्ष स्वीकरण है।

(३) व्यवहार-नय—लोक-व्यवहार सत्य है, यह दृष्टि जैन दर्शन को मान्य है। उसी का नाम है व्यवहार-नय। किन्तु स्थिर-नित्य वस्तु-स्वरूप का लोपकर, केवल व्यवहार-साधक, स्थूल और कियत्कालभावी वस्तुओं को ही तात्त्विक मानना मिथ्या आग्रह है। जैन दृष्टि यहाँ चार्वाक से पृथक् हो जाती है। वर्तमान पर्याय, आकार या अवस्था को ही वास्तविक मानकर उनकी अतीत या भावी पर्यायों को और उनकी एकात्मकता को अस्वीकार कर चार्वाक निर्हेतुक-वस्तुवादी बन जाता है। निर्हेतुक वस्तु या तो सदा रहती है या रहती ही नहीं। पदार्थों की जो कादाचित्क स्थिति होती है, वह कारण-सापेक्ष ही होती है[४८]।

(४) पर्याय की दृष्टि से ऋजुसूत्र का अभिप्राय सत्य है किन्तु बौद्ध दर्शन केवल पर्याय को ही परमार्थ सत्य मानकर पर्याय के आधार अन्वयी द्रव्य को अस्वीकार करता है, यह अभिप्राय सर्वथा ऐकान्तिक है, इसलिए सत्य नहीं है।

(५-६ ७) शब्द की प्रतीति होने पर अर्थ की प्रतीति होती है, यह सत्य है, किन्तु शब्द की प्रतीति के बिना अर्थ की प्रतीति होती ही नहीं, यह एकान्तवाद मिथ्या है।

शब्दाद्वैतवादी ज्ञान को शब्दात्मक ही मानते हैं। उनके मतानुसार—"ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो शब्द संसर्ग के बिना हो सके। जितना ज्ञान है, वह सब शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है[४९]।"

जैन-दृष्टि के अनुसार—"ज्ञान शब्द-संश्लिष्ट ही होता है"—यह उचित नहीं[५०]। कारण, शब्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न नहीं है। अवग्रह-काल में शब्द के बिना भी वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुमात्र सवाचक भी नहीं है। सूक्ष्म-पर्यायों के संकेत-ग्रहण का कोई उपाय नहीं होता, इसलिए वे अनभिलाप्य होती हैं।

शब्द अर्थ का वाचक है किन्तु यह शब्द इसी अर्थ का वाचक है, दूसरे

का नही—यह नियम नही बनता। देश, काल और संकेत आदि की विचित्रता से सब शब्द दूसरे-दूसरे पदार्थों के वाचक बन सकते हैं। अर्थ में भी अनन्त-धर्म होते हैं, इसलिए वे भी दूसरे-दूसरे शब्दो के वाच्य बन सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि शब्द अपनी सहज शक्ति से सब पदार्थों के वाचक हो सकते हैं किन्तु देश, काल, क्षयोपशम आदि की अपेक्षावश उनसे प्रतिनियत प्रतीति होती है। इसलिए शब्दो की प्रवृत्ति कही व्युत्पत्ति के निमित्त की अपेक्षा किये बिना मात्र रूढ़ि से होती है, कही सामान्य-व्युत्पत्ति-की-अपेक्षा-से और कहीं तत्कालवर्ती व्युत्पत्ति की अपेक्षा से। इसलिए वैयाकरण शब्द में नियत अर्थ का आग्रह करते हैं, वह सत्य नहीं है।

एकान्तवाद : प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

जैसे परोक्ष-ज्ञान विपरीत या मिथ्या होता है, वैसे प्रत्यक्ष ज्ञान भी विपरीत या मिथ्या हो सकता है। ऐसा होने का कारण एकान्त-वादी दृष्टिकोण है। कई बाल-तपस्वियो (अज्ञान पूर्वक तप करने वालों) को तपोबल से प्रत्यक्ष-ज्ञान का लाभ होता है। वे एकान्तवादी दृष्टि से उसे विपर्यय या मिथ्या रूप से परिणत कर लेते हैं। उसके सात निदर्शन बतलाए गए हैं :—

(१) एक-दिशि-लोकाभिगमवाद

(२) पञ्च दिशि-लोकाभिगमवाद

(३) जीव-क्रियावरण-वाद

(४) मुयग्ग पुद्गल जीववाद

(५) अमुयग्ग पुद्गल-वियुक्त जीववाद

(६) जीव-रूपि-वाद

(७) सर्व-जीववाद

एक दिशा को प्रत्यक्ष जान सके, वैसा प्रत्यक्ष ज्ञान किसी को मिले और वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करे कि बस लोकइतना ही है और "लोक सब दिशाओ में है, जो यह कहते हैं" वह मिथ्या है—यह एक-दिशि-लोकाभिगमवाद है।

पांच दिशाओ को प्रत्यक्ष जानने वाला विश्व को उतना मान्य करता है 'और एक दिशा में ही लोक है, जो यह कहते हैं' वह मिथ्या है—यह पञ्च-दिशि लोकाभिगम वाद है।

जीव की क्रिया को साक्षात् देखता है पर क्रिया के हेतु भूत कर्म परमाणुओं को साक्षात् नही देख पाता, इसलिए वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करता है— "जीव क्रिया प्रेरित ही है, क्रिया ही उसका आवरण है। जो लोग क्रिया को कर्म कहते हैं, वह मिथ्या है—यह जीव क्रिया वरणवाद है।"

देवों के बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलो की सहायता से भांति-भाति के रूप देख जो इस प्रकार सोचता है कि जीव पुद्‌गल-रूप ही है। जो लोग कहते हैं कि जीव पुद्‌गल-रूप नहीं है, वह मिथ्या है—यह सुयग-पुद्‌गल जीववाद है।

देवों के द्वारा निर्मित विविध रूपों को देखता है किन्तु बाह्याभ्यन्तर पुद्‌गलों के द्वारा उन्हे निर्मित होते नही देख पाता। वह सोचता है कि जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलों से रचित नहीं है जो लोग कहते हैं कि जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्‌गलों से रचित है, वह मिथ्या है—यह अनुयसा पुद्‌गल-वियुक्तजीववाद है।

देवों को विक्रियात्मक शक्ति के द्वारा नाना जीव-रूपों की सृष्टि करते देख जो सोचता है कि जीव मूर्त्त है और जो लोग जीव को अमूर्त्त कहते हैं, वह मिथ्या है—यह जीव-रूपि वाद है।

सूक्ष्म वायु काय के पुद्‌गलों में एजन, व्येजन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरण आदि विविध भावों में परिणमन होते देख वह सोचता है कि सब जीव ही जीव हैं। जो श्रमण जीव और अजीव—ये दो विभाग करते हैं, वह मिथ्या है—जिनमे एजन यावत् विविध भावों की परिणति है, उनमें से केवल पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को जीव मानना और शेष (गति-शील तत्त्वो) को जीव न मानना मिथ्या है—यह सर्व जीव वाद है [५१]।

शब्द प्रयोग की प्रक्रिया

संसारी जीवो का समूचा व्यवहार पदार्थाश्रित है। पदार्थ अनेक हैं। उन सबका व्यवहार एक साथ नही होता। वे अपनी पर्याय मे पृथक्-पृथक् होते हैं। उनकी पहिचान भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। यह एक बात है। दूसरी बात है—मनुष्य का व्यवहार सहयोगी है। मनुष्य करता और कराता है, देता है और लेता है, सीखता है और सिखाता है। पदार्थ के बिना क्रिया नही होती, देन-लेन नही होता, सीखना-सिखाना भी नहीं होता। इस व्यवहार का साधन चाहिए। उसके बिना "क्या करे, क्या दे, किसे जाने" इसका कोई समाधान नहीं मिलता। इन समस्याओ को सुलझाने के लिए सकेत-पद्धति का विकास हुआ। शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष माने जाने लगे।

स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द में कोई अपनापन नही। दोनो अपनी-अपनी स्थिति में स्वतन्त्र हैं। किन्तु उक्त समस्याओ के समाधान के लिए दोनो एकता की शृङ्खला में जुड़े हुए हैं। इनका आपस में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह भिन्नाभिन्न है। अग्नि शब्द के उच्चारण से दाह नहीं होता, इससे हम जान सकते हैं कि 'अग्नि पदार्थ' और 'अग्नि शब्द' एक नही हैं। ये दोनो सर्वथा एक नही हैं, ऐसा भी नहीं। अग्नि शब्द से अग्नि पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इससे हम जान सकते हैं कि इन दोनो में अभेद भी है। भेद स्वभाव-कृत है और अभेद सकेत-कृत। सकेत इन दोनों के भाग्य को एक सूत्र में जोड़ देता है। इससे अर्थ में 'शब्द ज्ञेयता' नामक पर्याय और शब्द में 'अर्थ-ज्ञापकता' नामक पर्याय की अभिव्यक्ति होती है।

सकेत-काल में जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढा जाता है वह वहीं रहे, तब कोई समस्या नही आती। किन्तु ऐसा होता नहीं। वह आगे चलकर अपना क्षेत्र विशाल बना लेता है। उससे फिर उलझन पैदा होती है और वह शब्द इष्ट अर्थ की जानकारी देने की क्षमता खो बैठता है। इस समस्या का समाधान पाने के लिए निक्षेप पद्धति है।

निक्षेप का अर्थ है—"प्रस्तुत अर्थ का बोध देने वाली शब्द रचना या

अर्थ का शब्द में आरोप [1] ।" अप्रस्तुत अर्थ को दूर रख कर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराना इसका फल है। यह संशय और विपर्यय को दूर किये देता है। विस्तार में जाएं तो कहना होगा कि वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हैं, उतने ही निक्षेप हैं[2]। संक्षेप में कम से कम चार तो अवश्य होते हैं—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य (४) भाव [3]।

नाम निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार नाम रखा जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम सार्थक (जैसे 'इन्द्र') या निरर्थक (जैसे 'डित्थ'), मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु जो नामकरण सिर्फ संकेत-मात्र से होता है, जिसमें जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं होती, वही 'नाम निक्षेप' है [4]। एक अनक्षर व्यक्ति का नाम 'अध्यापक' रख दिया। एक गरीब आदमी का नाम 'इन्द्र' रख दिया। अध्यापक और इन्द्र का जो अर्थ होना चाहिए, वह उनमें नहीं मिलता, इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते हैं। उन दोनों में इन दोनों का आरोप किया जाता है। 'अध्यापक' का अर्थ है—पढ़ाने वाला। 'इन्द्र' का अर्थ है—परम ऐश्वर्यशाली। जो अध्यापक है, जो अध्यापन कराता है, उसे 'अध्यापक' कहा जाए, यह नाम-निक्षेप नहीं। जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है, उसे 'इन्द्र' कहा जाए—यह नाम-निक्षेप नहीं। किन्तु जो ऐसे नहीं, उनका ऐसा नामकरण करना नाम-निक्षेप है। 'नाम-अध्यापक' और 'नाम-इन्द्र' ऐसी शब्द रचना हमें बताती है कि ये व्यक्ति नाम से 'अध्यापक' और 'इन्द्र' हैं। जो अध्यापन कराते हैं और जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं और उनका नाम भी अध्यापक और इन्द्र हैं तो हम उनको 'भाव-अध्यापक' और 'भाव इन्द्र' कहेंगे। यदि नाम-निक्षेप नहीं होता तो हम 'अध्यापक' और 'इन्द्र' ऐसा नाम सुनते ही यह समझ लेने को बाध्य होते कि अमुक व्यक्ति पढ़ाता है और अमुक व्यक्ति ऐश्वर्य-सम्पन्न है। किन्तु संज्ञासूचक शब्द के पीछे नाम विशेषण लगते ही सही स्थिति सामने आ जाती है।

स्थापना-निक्षेप

जो अर्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना स्थापना-निक्षेप है [5]।

स्थापना दो प्रकार की होती है—(१) सद्भाव (तदाकार) स्थापना (२) असद्भाव (अतदाकार) स्थापना। एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, यह सद्भाव-स्थापना है। एक व्यक्ति ने शंख में अपने गुरु का आरोप कर दिया, यह असद्भाव-स्थापना है। नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ शून्य होते हैं।

द्रव्य-निक्षेप

अतीत-अवस्था, भविष्यत्-अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनो विवक्षित क्रिया में परिणत नही होते। इसलिए इन्हे द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है। भाव-शून्यता वर्तमान-पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमे द्रव्यता का आरोप है।

भाव-निक्षेप

वाचक द्वारा संकेतित क्रिया मे प्रवृत्त व्यक्ति को भाव-निक्षेप कहा जाता है[६]। इनमें (द्रव्य और भाव निक्षेप में) शब्द व्यवहार के निमित्त ज्ञान और क्रिया—ये दोनों बनते हैं। इसलिए इनके दो-दो भेद होते हैं—

(१,२) जानने वाला द्रव्य और भाव।

(३,४) करने वाला द्रव्य और भाव।

ज्ञान की दो दशाएं होती हैं—(१) उपयोग-दत्तचित्तता।

(२) अनुपयोग-दत्तचित्तता का अभाव।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानने वाला उसके अर्थ मे उपयुक्त (दत्तचित्त) नहीं होता। इसलिए वह आगम या जानने वाले की अपेक्षा द्रव्य-निक्षेप है।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानता था, उसका शरीर 'ज्ञ-शरीर' कहलाता है और उसे आगे जानेगा, उसका शरीर 'भव्य-शरीर' ये भूत और भावी पर्याय के कारण हैं, इसलिए द्रव्य हैं।

वस्तु की उपकारक सामग्री मे वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, वह 'तद्-व्यतिरिक्त' कहलाता है। जैसे अध्यापक के शरीर को अध्यापक कहना अथवा अध्यापक की अध्यापन के समय होने वाली हस्त-सफेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। 'ज्ञ-शरीर' में अध्यापक शब्द का अर्थ जानने

वाले व्यक्ति का शरीर अपेक्षित है और तद्-व्यतिरिक्त मे अध्यापक का शरीर।

(१) ज्ञाता ··अनुपयुक्त···आगम से द्रव्य-निक्षेप।

(२) ज्ञाता का मृतक शरीर···नो-आगम से मृत-ज्ञ शरीर—द्रव्य निक्षेप।

(३) भावी पर्याय का उपादान···नो आगम से भावी-ज्ञ-शरीर—द्रव्य—निक्षेप।

(४) पदार्थ से सम्बन्धित वस्तु में पदार्थ का व्यवहार नो-आगम से तद्-व्यतिरिक्त—द्रव्य-निक्षेप। (जैसे वस्त्र के कर्ता व वस्त्र-निर्माण की सामग्री को वस्त्र कहना)

आगम-द्रव्य-निक्षेप में उपयोगरूप आगम-ज्ञान नही होता, लब्धि रूप (शक्ति-रूप) होता है। नो-आगम द्रव्यो में दोनो प्रकार का आगम-ज्ञान नहीं होता, सिर्फ आगम-ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। नो-आगम तद् व्यतिरिक्त में आगम का सर्वथा अभाव होता है। यह क्रिया की अपेक्षा द्रव्य है। इसके तीन रूप बनते हैं :—

लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।

(१) लोक मान्यतानुसार 'दूब' मगल है।

(२) कुप्रावचनिक मान्यतानुसार 'विनायक' मंगल है।

(३) लोकोत्तर मान्यतानुसार 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म' मंगल है।

१—ज्ञाता उपयुक्त (अध्यापक शब्द के अर्थ में उपयुक्त आगम से भाव-निक्षेप)।

२—ज्ञाता क्रिया-प्रवृत्त (अध्यापन क्रिया में प्रवृत्त) नो-आगम से भाव-निक्षेप।

यहाँ 'नो' शब्द मिश्रवाची है, क्रिया के एक देश में ज्ञान है। इसके भी तीन रूप बनते हैं :—

(१) लौकिक

(२) कुप्रावचनिक

(३) लोकोत्तर

नो-आगम तद्-व्यतिरिक्त द्रव्य के लौकिक आदि तीन भेद और

नो-आगम भाव के तीन रूप बनते हैं। इनमें यह अन्तर है कि द्रव्य में नो शब्द सर्वथा आगम का निषेध बताता है और भाव एक देश में ७। द्रव्य-तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र सिर्फ क्रिया है और इसका क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। अध्यापन कराने वाला हाथ हिलाता है, पुस्तक के पन्ने उलटता है, इस क्रियात्मक देश में ज्ञान नहीं है और वह जो पढ़ाता है, उसमें ज्ञान है, इसलिए भाव में 'नो शब्द' देशनिषेधवाची है।

निक्षेप के सभी प्रकारों की सब द्रव्यों में सगति होती है, ऐसा नियम नहीं है। इसलिए जिनकी उचित संगति हो, उन्हीं की करनी चाहिए।

पदार्थ मात्र चतुष्पर्यायात्मक होता है। कोई भी वस्तु केवल नाममय, केवल आकारमय, केवल द्रव्यता-श्लिष्ट और केवल भावात्मक नहीं होती।
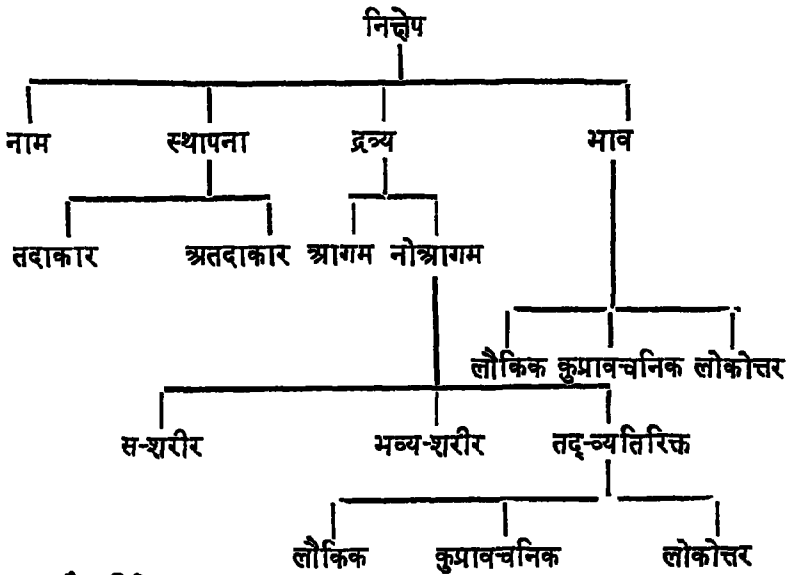
नय और निक्षेप

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध तथा उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। नामादि तीन निक्षेप द्रव्य-नय के विषय हैं, भाव पर्याय नय का। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य-अन्वय होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से होता है, इसलिए ये द्रव्यार्थिक के विषय बनते हैं। भाव में अन्वय नहीं होता। उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान-पर्याय से होता है, इसलिए वह पर्यायार्थिक का विषय बनता है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि-विन्दु हैं। भाव अकल्पित दृष्टि है। इसलिए वह प्रधान होता है। शेष तीन निक्षेप कल्पित होते हैं, इसलिए वे अप्रधान होते हैं।

नाम में पहिचान और स्थापना में आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नही होती। द्रव्य मूल-वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है। इसमे भी मौलिकता नहीं होती। इसलिए ये तीनो मौलिक नहीं होते।

निक्षेप पद्धति की उपयोगिता

निक्षेप भाषा और भाव की सगति है। इसे समझे विना भाषा के प्रास्ताविक अर्थ को नही समझा जा सकता। अर्थ-सूचक शब्द के पीछे अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाला जो विशेषण लगता है, यही इसकी विशेषता है। इसे 'स-विशेषण भाषा-प्रयोग' भी कहा जा सकता है। अर्थ की स्थिति के अनुरूप ही शब्द-रचना या शब्द-प्रयोग की शिक्षा वाणी-सत्य का महान् तत्त्व है। अधिक अभ्यास-दशा में विशेषण का प्रयोग नहीं भी किया जाता है, किन्तु वह अन्तर्हित अवश्य रहता है···यदि इस अपेक्षा दृष्टि को ध्यान मे न रखा जाए तो पग-पग पर मिथ्या भाषा का प्रसग आ सकता है। जो कभी अध्यापन करता था, वह आज भी अध्यापक है—यह असत्य हो सकता है और भ्रामक भी। इसलिए निक्षेप दृष्टि की अपेक्षा नही भुलानी चाहिए। यह विधि जितनी गभीर है, उतनी ही व्यावहारिक है।

नाम—एक निर्धन आदमी का नाम 'इन्द्र' होता है।

स्थापना—एक पाषाण की प्रतिमा को भी लोग 'इन्द्र' मानते हैं।

द्रव्य—जो कभी घी का घड़ा रहा, वह आज भी 'घी का घड़ा' कहा जाता है। जो घी का घड़ा बनेगा, वह घी का घड़ा कहलाता है। एक व्यक्ति आयुर्वेद मे निष्णात है, वह अभी व्यापार मे लगा हुआ है फिर भी लोग उसे आयुर्वेद-निष्णात कहते हैं। भौतिक ऐश्वर्य वाला लोक में 'इन्द्र' कहलाता है। आत्म-संपत् का अधिकारी लोकोत्तर जगत् में "इन्द्र" कहलाता है। इस समूचे व्यवहार का कारण निक्षेप-पद्धति ही है।

नौ

लक्षण

समग्रं वस्तुनो रूपं, प्रमाणेन प्रमीयते।
असङ्कीर्णं स्वरूपं हि, लक्षणेनावधार्यते॥

अर्थ-सिद्धि के दो साधन हैं—लक्षण और प्रमाण [1]। प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओ को श्रेणी-बद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है, लक्षण वस्तुगत धर्म। यह जगत् अनेकविध पदार्थों से सकुल है। हमे उनमें से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरों से पृथक् करने के लिए विशेष-धर्म बताना पड़ता है, वह लक्षण है [2]। लक्षण में लक्ष्य-वस्तु के स्वभाव धर्म, अवयव अथवा अवस्था का उल्लेख होना चाहिए। इसके द्वारा हम ठीक लक्ष्य को पकड़ते हैं, इसलिए इसे व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) धर्म कहते हैं। व्यवच्छेदक धर्म वह होता है जो वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता (असंकीर्ण व्यवस्था) बतलाए। स्वतन्त्र पदार्थ वह होता है, जिसमें एक विशेष गुण (दूसरे पदार्थों मे न मिलने वाला गुण) मिले।

स्वभावधर्म : लक्षण

चैतन्य जीव का स्वभाव धर्म है। वह जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए वह जीव का गुण है और वह हमे जीव को अजीव से पृथक् समझने में सहायता देता है, इसलिए वह जीव का लक्षण बन जाता है।

अवयव-लक्षण

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। वह गाय के ही होता है और पशुओं के नही होता, इसलिए वह गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिह्न' समझा कर गाय का ज्ञान करा सकते हैं।

अवस्था-लक्षण

दस आदमी जा रहे हैं। उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है, उसके हाथ में डण्डा है। आवाज हुई—"डण्डे वाले आदमी!

आओ।" दस में से एक आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है।

अवस्था-लक्षण स्थायी नही होता। डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए इसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। कुछ समय के लिए भले ही, किन्तु यह वस्तु का व्यवच्छेद करता है, इसलिए इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नही आती।

पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं, इसलिए उन्हे 'आत्मभूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष—लक्षणाभास[3]

किसी वस्तु का लक्षण बनाते समय हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लक्षण (१) श्रेणी के सब पदार्थों मे होना चाहिए।
,, (२) श्रेणी के बाहर नही होना चाहिए।
,, (३) श्रेणी के लिए असम्भव नही होना चाहिए।

लक्षणाभास के उदाहरण

(१) "पशु सींग वाला होता है"—यहाँ पशु का लक्षण सींग है। यह लक्षण पशु जाति के सब सदस्यो मे नही मिलता। "घोड़ा एक पशु है किन्तु उसके सींग नही होते" इसलिए यह 'अव्याप्त दोष' है।

(२) "वायु चलने वाली होती है"—इसमें वायु का लक्षण गति है। यह वायु में पूर्ण रूप से मिलता है किन्तु वायु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ मे भी मिलता है। "घोड़ा वायु नही, फिर भी वह चलता है" इसलिए यह 'अतिव्याप्त दोष' है।

(३) पुद्गल (भूत) चैतन्यवान् होता है—यह जड़ पदार्थ का 'असम्भव लक्षण' है। जड़ और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है—किसी भी समय जड़ चेतन और चेतन जड़ नही बन सकता।

वर्णन और लक्षण में भेद

वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वभाव-धर्म और स्वभाव-सिद्ध-धर्म। प्राणी ज्ञान वाला होता है—यह प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव धर्म है। प्राणी वह होता है, जो खाता है, पीता है, चलता है—ये उसके स्वभाव-सिद्ध धर्म हैं। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् करता है, इसलिए वह प्राणी का लक्षण है। खाना, पीना, चलना—ये प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् नही करते—इंजिन (Engine) भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी का लक्षण नही करते, सिर्फ वर्णन करते हैं।

कार्यकारणवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्याय-शास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नही बताता किन्तु असत् से सत् बनता है या नही—इसकी मीमांसा करता है। इसी का नाम कार्यकारणवाद है।

वस्तु का जैसे स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार दृष्टि को काम में लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए। निश्चय दृष्टि के अनुसार उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहाँ आ जाते हैं कि वह परमाणुओ से बनी है। ये दोनो दृष्टियां मिल सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन की भाषा में ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती हैं[१]। बौद्ध दर्शन में इन्हे लोक-संवृति सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है[२]। शंकराचार्य नें ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपंच को व्यवहार-सत्य माना है[३]। प्रो० आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नही सकते[४]।

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार-दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है[५]। जीव और शिव में कोई भेद नहीं।

व्यवहार दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।

कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ मे पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहले वाला कारण और पीछे वाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है[६]। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते हैं। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति-काल में ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं :—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता

है और कारण का नाश।[६] कारण ही अपना रूप त्याग कर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नही बनता और असत् सत् नहीं बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नही। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी को करेगा, किसी दूसरे को नहीं। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से करण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है[७]।

एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानि बहु-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नही हो सकता।

विविध विचार

कार्य-कारणवाद के बारे में भारतीय दर्शन की अनेक धाराएं हैं—न्याय-वैशेषिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारण-वाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है। सांख्य कार्य और कारण दोनों को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचारधारा—'परिणाम-वाद या सत् कार्यवाद' कहलाती है। वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को "विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद" कहा जाता है। वौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहा जाता है।

वौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्-कारण से असत् कार्य मानते हैं। उनके मतानुसार वास्तव में कारण और कार्य एक रूप हों, तब दोनों सत् होते हैं[८]। कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तव कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

(१) कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नही होते। कारण कार्य का ही पूर्व रूप है और कार्य कारण का उत्तर रूप। असत् कार्यवाद के अनुसार कार्य,

कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनों स्वतन्त्र बन जाते हैं। इसलिए यह युक्ति संगत नहीं है।

(२) सत्-कार्यवाद भी एकांगी है। कार्य और कारण में अभेद है, सही किन्तु वे सर्वथा एक नहीं हैं। पूर्व और उत्तर स्थिति में पूर्ण सामञ्जस्य नहीं होता।

(३) असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। कार्य किसी शून्य से उत्पन्न नहीं होता। सर्वथा अभूतपूर्व व सर्वथा नया भी उत्पन्न नहीं होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा में कार्य का कोई रूप बनता ही नहीं।

(४) विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध-दही के रूप में परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे बिना मिथ्या प्रतीति का कारण बनता है। रस्सी अपना रूप त्याग किये बिना ही मिथ्या प्रतीति का कारण बनती है[९]। तत्त्व-चिन्तन में 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थित नहीं करता। रस्सी में साँप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नहीं, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल में एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किन्तु सर्वदा सब व्यक्तियों को मिथ्या प्रतीति ही नहीं होती।

न्याय—वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं। सांख्य द्वैतपरक अभेद[१०], वेदान्त अद्वैतपरक अभेद[११], बौद्ध कार्य-कारण का भिन्न काल स्वीकार करते हैं[१२]।

जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् होता है। इसे सत्-असत्-कार्यवाद या परिणामि-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक हैं—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप में परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भिन्न नहीं मानती। व्यवहार-दृष्टि में कार्य और कारण भिन्न हैं—दो हैं। द्रव्य-दृष्टि से जैन सत्-कार्यवादी है और पर्याय-दृष्टि से असत् कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा "भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नहीं होता।[१३]"

पर्याय दृष्टि की अपेक्षा—"सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है [१४]।"

कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके विना जो नही होता, वह व्यतिरेक है—ये दोनो जहाँ मिले, वहाँ कार्य-कारण भाव जाना जाता है।

परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। "प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है"—यह तर्क-नियम सामान्यतः सही है किन्तु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते है :—

(१) स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष परिवर्तन।

(२) पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम···भगवान् ! (१) क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप मे परिणत होता है? (२) नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है?

भगवान्···हाँ, गौतम ! होता है।

गौतम ······भगवन् ! ! क्या (३) स्वभाव से अस्तित्व, अस्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से अस्तित्व अस्तित्व-रूप में परिणत होता है? (४) क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप मे परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्व रूप मे परिणत होता है?

भगवान्···गौतम ! स्वभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में, नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है और परभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में और नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है। [भग० १-३]

वैभाविक परिवर्तन प्रायः पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिंडरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व में परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व-तन्तु-समुदय, जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपड़े के

रूप में परिणत होता है। ये दोनों परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व रूप पदार्थ स्वयं मेघ के रूप में परिवर्तित होते हैं, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन में कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ में जो अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह परनिमित्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिंड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरतीं कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रह सकतीं। सांसारिक आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्यों में रूपान्तर दशाएं पैदा होती हैं। शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म) आकाश और काल) में निरपेक्षवृत्त्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा में भी यही होता है। यों कहना चाहिए कि स्व निमित्त परिवर्तन सब में होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप-रूपान्तर और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तर होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नहीं टूटती [१५]। तैजस् परमाणु तिमिर के रूप में परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है। उससे आगे नहीं। तैजस् परमाणु असंख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किन्तु चैतन्य नहीं पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो सरीखी वस्तुएं अलग-अलग थीं, तब तक वे दो थीं। दोनों मिलती हैं, तब एक बन जाती हैं [१६]। यह भी अपनी मर्यादा में ही होता है। केवल चैतन्यमय या केवल अचैतन्यमय पदार्थ हैं नहीं, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड़—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड़ और जड़ चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेष स्वरूप है वह कभी नष्ट नहीं होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है।

मार्क्स के धर्म-परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त मे कार्य-कारण का निश्चित नियम नहीं है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नहीं करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास मे भारी रुकावट मानता है। 'सच तो यह है कि 'जो पहले था; वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—"वाली धारणा का हमे लगभग सब जगह सामना करना पड़ता है और व्यक्तियो और समाज के विकास मे भारी रुकावट पड़ती है।" [मार्क्सवाद पृष्ठ ७२]

किन्तु यह आशंका कार्य-कारण के एकांगी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है, जो था, है और वैसा ही रहेगा—"यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में पदार्थ परिणाम स्वभाव है। पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती में सम्बन्ध हुए विना कार्य-कारण की स्थिति ही नही वनती। परवर्त्ती पूर्ववर्त्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्त्ती परवर्त्ती में अपना संस्कार छोड़ जाता है [१७]। यह शब्दान्तर से 'परिणामि-नित्यत्व

परिशिष्ट

: १ :

: एक :

१—न्याय शब्द के अर्थ :—

(क) नियम युक्त व्यवहार—न्यायालय आदि प्रयोग इसी अर्थ में होते हैं।

(ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जाने वाला सादृश्य, जैसे—देहली-दीपक-न्याय।

(ग) अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।

न्याय-शास्त्र में 'न्याय' शब्द का तृतीय अर्थ ग्राह्य है।

२—भिक्षु० न्या० १।१।

३—विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा।

—न्या० दी० पृ० ८

४—भिक्षु० न्या० १।२।

५—स्था० १०।७२७

६—भिक्षु० न्या० १।३।

७—भिक्षु० न्या० १।३।

८—सिद्धिरसतः प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्ति र्भाव-ज्ञप्तिश्च। तत्र ज्ञापक—प्रकरणाद् असतः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते।

—प्र० क० म० पृ० ५

९—(क) अहो मुचं वृषभं यज्ञियान विराजन्त प्रथममध्वराणाम्। अपा न पातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोजः।

—अथर्व० का० १९।४२।४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एव इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

(ख) भागवत स्कन्ध ५, अ० ३।६।

(ग) इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवा परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसः समस्त दुश्चरितानि हरणम्।

—भागवत स्कन्ध ५।२८

(घ) धम्म० —उसभं पवरं वीरं (४२२)

(ङ) जैन वाङ्मय—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यक, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।

१०—इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविय, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे।—नं० ६०

११—उपायप्रतिपादनपरो वाक्यप्रबन्धः। —स्था० वृ० ३।३।१८६

१२—स्था० ३।३।१८६

१३—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी —स्था० ४।२।२८२।

१४—स्था० ४।२।२८२।

१५—अनु०।

१६—स्था० ४।४।३८२

१७—स्था० ६।६।७६।

१८—आहरण हेउ कुसले···पभूधम्मस्स आघवित्तए —आचा० १।६।५।

१६—सू० ७।१६।

२०—सयं-सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जेउ तत्थ विउस्संति, संसारे से विउस्सिया॥ —सू० १।१-२-२३।

२१—बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे। सू० १।३।३।१६

२२—इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइस्संति।—नं० ५७

२३—(क) तत्र आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेन इति आगमः। केवलमनः पर्यायाऽवधि पूर्वचतुर्दशक-दशक-नवकरूपः। भग० वृ० ८।८

(ख)- केवलमनपज्जव नै अवधिधरं, चउदपूर्वदस सार। नवपूर्वधर ए षट् विध है, धुर आगम व्यवहार हो॥ —भग० जोड़ ढ़ाल १४६।

२४—उपचारादाऽप्तवचनं च। —प्र० नं० ४।२

२५—सद्दव्वं वा—भग० ८।६

२६—उपन्ने वा विगए वा धुवे वा। स्था १०

२७—उत्त०—२८।६

२८—से किं तं पमाणे ? पमाणे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा पच्चक्खे, अणुमाणे उवमे, आगमे। जहा अणुयोगदारे तहा णेयव्वं—भग०५।२

२९—व्यवसायो—वस्तुनिर्णयः—निश्चयः स च प्रत्यक्षोऽवधि मनः पर्याय केवलाख्यः। प्रत्ययात्—इन्द्रियानिन्द्रियलक्षण-निमित्ताज्जातः प्रात्ययिक : साध्यम्—अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादि हेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकाम्—अनुमान तद्रूपो व्यवसाय अनुगामिक एवेति अथवा प्रत्यक्षः स्वयं दर्शनलक्षणः। प्रात्ययिकः आप्तवचनप्रभवः। स्था० ३।३।१८५

३०—स्था २।१।७१

३१—स्था० ४।३

३२—अनु० १४४

३३—स्था० ४।३

३४—स्था० ४।३

३५—स्था० ४।३

३६—स्था० ४।३

३७—स्था० १०

३८—स्था० ६।१।५१२

३९—भग० ८।२, न० २, रा० प्र० १६५

४०—स्था० २।१।२४

४१—प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात् ।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि ॥
—न्याय० ११

अनुमानप्रतीतं प्रत्यायन्नेवं वचनमिति —अग्निरत्र धूमात् ।
प्रत्यक्षप्रतीतं पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति ।
—न्याय० टीका० ११

४२—प्र० न० ३।२६-२७……

४३—लाभुत्ति ण मज्जिज्जा, अलाभुत्ति ण सोएज्जा —आचा० ३।१।१२६

४४—त० सू० १-६

४५—ग्रामान्तरोपगतयो रेकामिषसङ्गजातमत्सरयोः ।
स्यात् सख्यमपि शुनो भ्रात्रोरपि वादिनो र्न स्यात् ॥ १ ॥
अन्यत एव श्रेयान्, अन्यत एव विचरन्ति वादिवृषा· ।
वाक् संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ ७ ॥
ज्ञेयः पर सिद्धान्तः, स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् ।
परपक्षक्षोभणमभ्युपेत्य तु सतामनाचारः ॥ १० ॥
परनिग्रहाध्यवसित श्चित्तैकाग्र्यमुपयाति यद् वादी ।
यदि तत् स्याद् वैराग्ये, न चिरेण शिवं पदमुपयातु ॥ २५ ॥
—वाद० द्वा०

४६—सू० १।३।३-१९

४७—'नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयम्'—
इत्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इति अप्रतिज्ञः —सू० वृ० १।३।३।१४

४८—सन्म० ३।६९

४९—सन्म० ३।४७

: दो :

१—(क) न्या० वि० १।१९।२०
(ख) बौद्ध (सौत्रान्तिक) दर्शन के अनुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थ-ग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारुप्य भी कहा जाता है ।
"स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद् रूपादर्थनिश्यः ।

विषयाकार एवास्य, प्रमाणं तेन मीयते ॥" —प्र० समु० पृ०० २४

प्रमाणं तु सारूप्य, योग्यता वा —त० श्लो० १३-४४

२—न्या० म० १।१।३

३—न्याय० १

४—मी० श्लो० वा० १८४-१८७

५—स्या० मं० १२

६—स्या० मं० १५

७—देखिए वसुबंधुकृत 'विंशतिका

८—स्या० मं० १६

९—लघी० ६० ।

१०—प० मु० मे०

११—प्र० न० १।२।

१२—प्रमा० मी० १।३।

१३—भिक्षु न्या० १।११।

१४—सर्व ज्ञान स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
वहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाण, किंचित् प्रमाणाभासम् ॥
—प्र० न० १।१६

१५—प्रमेय नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य —भिक्षु० न्या० १-११।

१६—तत्त्वा० श्लो० १७५।

१७—सन्म० पृ० ६१४ ।

१८—तत्त्वा० श्लो० पृ० १७५ ।

१९—(क) प्र० न० २० १-२ ।
(ख) प्रमा० मी० ।

२०—प्र० न० १।२० ।

२१—भिक्षु न्या० १।१६ ।

२२—अयञ्च विभागः विषयापेक्षया, स्वरूपे तु सर्वत्र स्वत एव प्रामाण्य-
निश्चयः —ज्ञा० वि०

२३—भिक्षु न्या० १।१३ ।

२४—रस्सी में सांप का ज्ञान होता है, वह वास्तव मे ज्ञान-द्वय का मिलित रूप है। रस्सी का प्रत्यक्ष और सांप की स्मृति। द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष से प्रत्यक्ष और स्मृति विवेक-भेद को भूल जाता है, यही 'अख्याति या विवेकाख्याति' है।

२५—रस्सी में जिस सर्प का ज्ञान होता है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नही है, सत्-असत् भी नहीं है, इसलिए 'अनिर्वचनीय'—सद्सत् विलक्षण है। वेदान्ती किसी भी ज्ञान को निर्विषय नहीं मानते, इसलिए इनकी धारणा है कि भ्रम-ज्ञान में एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

२६—ज्ञान-रूप आन्तरिक पदार्थ की वाह्य रूप में प्रतीति होती है, यानी मानसिक विज्ञान ही बाहर सर्पाकार में परिणत हो जाता है, यह 'आत्म-ख्याति' है।

२७—द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष वश रस्सी मे पूर्वानुभूत साँप के गुणो का आरोपण करता है, इसलिए उसे रस्सी सर्पाकार दीखने लगती है। इस प्रकार रस्सी का साँप के रूप में जो ग्रहण होता है, वह 'विपरीत ख्याति' है।

२८—भिक्षु न्या० १।१४।

२६—भिक्षु० न्या० १।१५।

३०—अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

—वि० भा० वृ० गाथा० ३१७

३१—कर्मवशवर्तित्वेन आत्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्।

—न्या० पत्र १७७।

३२—भग० जोड़ ३।६।६८...५१ से ५४।

३३—प्रज्ञा० २३

३४—प्रज्ञा० २२

३५—प्र० न० १।७।८

३६—(क) अव्यक्तबोधसशयाऽसर्वार्थग्रहणानि चावरणशीलज्ञानावरणकर्म सद्भावादभ्युपेयानि। —त० भा० टी० २।८ पृ० १५१

(ख) आवारकत्वस्वभाव ज्ञानावरण कर्मसद्भावेनाव्यक्तबोधसंशयोद्भावाशेष विषयाग्रहणान्यप्यविरूद्धानि…। न्या० पत्र १७७।

३७—साची सरधा भाखी जगनाथ, ते ऊंधी सरध्या आवै मिथ्यात।
और ऊंधो सरधनी आवै, तो झूठ लागै पिण सरधा न जावै।
—इ० चौ० ७-६।

३८—प्रज्ञा० २३

३९—अनु० १२६।

४०—धर्म में अधर्म-संज्ञा, अधर्म में धर्म-सज्ञा आदि।—भग० जोड़ १४।२।

४१—अज्ञानी केइ बोल ऊंधा श्रध्या ते मिथ्यात्व आश्रव छै। ते मोह कर्म ना उदय थी नीपनो छै, माटे ते अज्ञान नथी, केमके अज्ञानी जेट लो शुद्ध जाणै ते ज्ञानावरणीय नां क्षयोपशम थी नीपनो छै। माटे ते भाजन आसरी अज्ञान छै। अज्ञान ने अंधी श्रद्धा बन्ने जुदा छै।
—भग० जोड़ ८-२।

४२—(क)—नं० २५

(ख)—मिथ्यात्विनां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपि बोधो मिथ्यात्वसहचारित्वात् अज्ञानं भवति…। —जैन० दी० २।२१ वृत्ति

(ग) भाजन लारे जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहीजिए।
समदृष्टि रे ज्ञान रे, अज्ञान अज्ञानी तणो ॥
—भग० जोड़ ८।२।५५।

४३—कुत्सितं ज्ञानमज्ञान, कुत्सार्थस्य नञोऽन्वयात्।
कुत्सितत्वतु मिथ्यात्वयोगात् तत् त्रिविध पुनः
लो० प्र० (द्रव्यलोक) श्लोक ६६

४४—ज्ञा० वि० ४०।४१

४५—(क) स्था० २।४।

(ख) नाण मोह चाल्यो सूत्तर मझै, ते ज्ञान में उपजै व्यामोह।
ते ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ते मोह निश्चै नहीं होय ॥

'दिसा मोहेण' कह्यो आवसग मर्भ, ते दिसणो पाम्यो व्यामोह ।
ते पिण ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ते हिरदै विचारी जोय ॥
ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ज्ञान भूले सांसो पर जाय ।
दसण मोहणी रा उदा थकी, पदार्थ ऊंधो सरधाय ॥

—इ० चौ० १०।३३,३६,३७ ।

४६—न्याया० वा० वृ० पृ० १७०

४७—मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु, दृष्टि मोहोदयाद् भवेत् ॥
यथा सरजसालावूफलस्य कटुकत्वतः ।
क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः, कटुभाव स्तथाविधः ॥
तथात्मनोपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते ।
मत्यादिसंविदां तादृङ्, मिथ्यात्व कस्यचित् सदा ॥

—तत्वा० श्लो० पृ० २५६ ।

४८—खओवसमिआ आभिणी बोहिय णाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जव णाणलद्धी,। खओवसमिआ मइ अण्णाणलद्धी, खओवसमिया सुय अण्णाणलद्धी खओवसमिया विभग अण्णाणलद्धी···। —अनु० १२६

४६—सदसद् विसेसाणाओ भवहेतु जदिच्छिओव लंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाण ॥

—वि० भा० ११५

५०—भग० २४।२१

५१—से किं त जीवोदय निप्फन्ने· ·मिच्छादिट्ठी —अनु० १२६

५२—(क) से किं तं खओवसमनिप्फन्ने···मिच्छादंसण लद्धी ।

—अनु० १२६ ।

(ख) मिथ्या दृष्टि कहाय रे, भाव क्षयोपशम उदय वली ।
ए विहुं भावे थाय रे, देखो अनुयोग द्वार मैं ॥
क्षयोपशम निपन्न मांहिरे, दाखी मिथ्या दृष्टि ने ।
मिथ्यात्वी री ताहि रे, भली भली श्रद्धा तिका ॥
मिथ्यात्व आस्रव ताम रे, उदय भाव मिथ्या दृष्टि ॥

—भग० जोड़ १२-५

५३—विसोहि मग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पन्नत्ता...।—सम० १४।

५४—प्रबलमिथ्यात्वोदये क्वाचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः।—कर्म०

५५—भग० जोड़ ८।२।

५६—यः एक तत्त्वं तत्त्वांशं वा संदिग्धे, शेषं सम्यग् श्रद्धत्ते, सम्यग् मिथ्यादृष्टिः, सम्यक् मिथ्यात्वीति यावत्। —जैन० दी० ८।४।

५७—मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे।

—भग० वृ० ८।२।

५८—तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्वस्य कार्यम्, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यः शुभ आत्म-परिणामविशेषः। —धर्म प्रक० २ अधिकरण।

५९—तत्त्वा० श्लो० पृ० २५६।

६०—विभंग नाणी कोय रे, दिशा मूढ़ जिम तेह स्यू।
सगलां नें नहिं कोय रे, एहवूं इहां जणाय छै॥

—भग० जोड़ ३,६,६।२६।

: तीन :

१—न्याया० ४।

२—भग० ४।३।

३—स्था० ५।३।

४—प्र० प्र० १।३

५—नं० २-३

६—प्रमा० मी० १।१४

७—अन्तःकरण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहते हैं।

८—वेदान्त में ज्ञान दो प्रकार का है—साक्षि-ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान। अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान 'साक्षि-ज्ञान' और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्ति-ज्ञान' कहा जाता है।

९—भिक्षु न्या० २।२।

१०—प्र० न० २ व जैन० तर्क पृ० ७०

११—भिक्षु न्या० २।३।

१२—व्यञ्जनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते सुप्ताव्यक्तविज्ञानवत्…। —स्था० वृत्ति० २-१-७१।

१३—(१) स्वरूप—रसना के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है। वह 'रस' होता है।

(२) नाम—रूप, रस आदि वाचक शब्द।

(३) जाति—रूपत्व, रसत्व आदि जाति।

(४) क्रिया—सुखकर, हितकर आदि क्रिया।

(५) गुण—कोमल, कठोर, आदि गुण।

(६) द्रव्य—पृथ्वी, पानी आदि द्रव्य।

१४—अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्र ग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

—वि० भा० वृ० पृ० ३१७

१५—न्याय० सू० १-१-२३।

१६—न्याय० सू० १-१-४०।

१७—न्याय० सू० १-१-४१।

१८—त्रिकालगोचरस्तर्क, ईहा तु वार्तमानिकार्थविषया —जैन० तर्क०

१९—नं० २६

२०—नं० २७।३०

२१—नं० २६

२२—केई त्तु वंजणोग्गहवज्जेच्छोढूण मेयम्मि ॥ ३०१ ॥

अस्सुय निस्यियमेवं अट्ठावीस विहं ति भासंति।

जमवग्ग हो दुमेओऽवग्गह सामण्णओ गहिओ ॥ ३०२ ॥

—वि० भा० वृ०

२३—चउवइरित्ता भावा, जम्हा न तमोग्गहाइओ।

भिन्नं तेणोग्गहाइ, सामण्णओ तयं तग्गयं चेव ॥ ३०३ ॥

—वि० भा० वृ०

२४—[अर्थावग्रह—व्यञ्जनावग्रहभेदेनाश्रुत निश्रितमपि द्विधैवेति, इदञ्च श्रोत्रादिप्रभवमेव, यत्तु औत्पत्तिक्याद्यश्रुतनिश्रितं तत्रार्थावग्रहः सम्भवति,

न तु व्यञ्जनावग्रहः, तस्य इन्द्रियाश्रितत्वात्, बुद्धीनां तु मानसत्वात्, ततो बुद्धिभ्योऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहो मन्तव्यः।

—स्था० वृ० २।१।७१

: चार :

१—'अपौद्गलिकत्वादमूर्त्तो 'जीवः' पौद्गलिकत्वात्तु मूर्त्तानि द्रव्येन्द्रियमनांसि, अमूर्त्ताच्च मूर्तं पृथग्भूतं ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रिय मनोभ्यो यन्मति श्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादि ज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षम्।

—वि० भा० वृ६ गाथा० ६

२—तथा हि पर्वतोयं साग्निः उतानग्निः, इति संदेहानन्तरं यदि कश्चिन्-मन्यते-अनग्निरिति तदा तं प्रति यद्ययमनग्निरभविष्यत्तर्हि धूमवन्नाभविष्यत् इत्यवह्निमत्त्वेनाधूमवत्त्वप्रसज्जनं क्रियते। स चानिष्टं प्रसंगः तर्क उच्यते। एवं प्रवृत्तः तर्कः अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् अनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति…।

—(तर्क० भा०)

३—सपञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः —वा० भा०

४—समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः। —न्याय० वा०

५—भिक्षु० न्या० ३-२८।

६—भिक्षु० न्या० ३-३३।

७—भिक्षु० न्या० ३-३१।

८—भिक्षु० न्या० ३-३२।

९—प्र० न० ३।६५-१०७

: पाँच :

१—युक्त्या अविरुद्धः सदागमः सापि तद् अविरुद्धा इति।
इति अन्योन्यानुगतं उभयं प्रतिपत्तिहेतुः इति॥

२—यो हेतुवादपक्षे हेतुकः आगमे च आगमिकः।
स स्वसमयप्रज्ञापकः सिद्धान्तविराधकोऽन्यः॥

३—न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरुपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणै-वास्य अर्थबोधकत्वात्। —जैन० तर्क० पृ० २६

नं० ५८

४—स्या० मं० श्लो० १७

५—जं इमं अरिहंतेहिं भगवतेहि उप्पण्णणाण दंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णा-णागय जाणएहिं सव्वण्णूहि सव्वदरिसिहिं पणीअं सेतं भावसुयं।

—अनु० ४२

६—अनु० १४४

७—अनु० ,,

८—(क) नं० ३६।

(ख) संज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि एते चोपचाराच्छ्रुते। लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः तदावरण-क्षयोपशमो वा……। —जैन० तर्क० पृ० ६

९—अभि० चि० १।१

१०—अभि० चि० १।२

११—मिश्राः पुनः परावृत्य सहागीर्वाण सन्निभाः। —अभि० चिं० १।१६

१२—दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाएसिया, तंजहा…साहन्नंताणं पुग्गलाणं सद्दुप्पा-एसिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया…।

—स्था० २।३।८१।

१३—(क) स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।

—प्र० न० ४

(ख) भिक्षु० न्या० ४-६।

१४—(क) सामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य…। न्याय० सू० २।१।५५।

(ख) सामयिकः शब्दार्थ सप्रत्ययो न स्वाभाविकः —वा० भा०

१५—वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैव अवगम्यते, तस्यैव सकलशब्दार्थ गोचरत्वात्। प्रयोजकवृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टा-मवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकता शब्देऽवधारयतो ऽन्त्यावयव श्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसंकलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत आवापोद्वापाभ्या सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभावप्रतीति-दर्शनात्…। —जैन० तर्क० पृ० १५

१६—स्था० १०।७०१

१७—अनु० ७० ११

१८—(क) किञ्चिदपि स्वधर्मः परापेक्ष परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवत् वर्णादिवत्

—प्र० क० मा० ४।५

(ख) वस्तुतः केचित् भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः, केचिन्नेत्यत्र स्वभाव एव शरणम्। —[illegible]।

१९—से इति परावेक्खा, वत्थुसहावणिमित्ति णय दुच्छा। दिट्ठमिणं वेचित्त, [illegible] भाणु…। —भा० ७० ३०

२०—सू० १।१।३ ।

२१—स्था० १० ।

२२—भग० ५।३ ।

२३—उत्त० ३६।८० ।

२४—भग० ६।७ ।

२५—भग० १।७।६१ ।

२६—भग० १७।२ ।

२७—स० नि०

२८—स० नि०

२९—भग० १८।१० ।

३०—(क) भग० ८।२ । (ख) स्था० १०।७५४ ।

३१—दशवै० ७।८,६ ।

३२—(क) न चावधारणविधिः सिद्धान्तेनानुमत इति वक्तव्य, तत्र-तत्र प्रदेशेऽनेकशोऽवधारणविधिदर्शनात्, तथाहि—"किमियं भन्ते ! कालोत्ति पवुच्चइ ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेवत्ति स्थानाङ्गेऽप्युक्तम्—"जदत्थि दुपडोयार, तंजहा च णं लोए तं सव्व—जीवा चेव अजीवा चेव" ।

तथा "जह चेवउ मोक्खफला, आणा आराहिया जिणिंदाए" इत्यादि वा त्ववधारणी भाषा प्रवचने निषिध्यते सा क्वचित् तथा रूप वस्तुतत्त्वनिर्णया-

भावात् क्वचिदेकांतप्रतिपादिका वा न तु सम्यग् यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णये स्यात् पदप्रयोगावस्थायामिति । —आचा० वृ० प० ३७०

(ख) प्रज्ञा० ११

३३—म० नि० (सव्वासव सुत्त)

३४—सन्म० ३।५४

३५—आचा० १-१-१ ।

३६—दशवै० ४ १३ ।

३७—भग० ७-२ ।

३८—(क) बृह० उप० २-३-११ ।

(ख) ,, ४-२-११ ।

३९—यतो वाचो निवर्त्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह…। —तैत्त० उप० २।४

४०—म० नि० (चूल मालुक्य सुत्त ६)

४१—एकत्वसादृश्यप्रतीत्योः संकलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानता ऽनतिक्रमात् ।

—प्र० क० मा० पृ० ३४५

४२—अर्थादापत्तिः अर्थापत्तिः, आपत्ति :—प्राप्तिः प्रसगः यथाऽभिधीयमानेऽर्थे चान्योर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः, यथा—पीनोदेवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, इत्यभिधानाद् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते ।

४३—प्रमाणपचकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राऽभाव-प्रमाणता ॥

—मी० श्लो० वा० पृ० ४७३ ।

४४—प्र० न० २।१ ।

४५—न्याया० पृ० २१ ।

४६—सम्भवः—अविनाभाविनोर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः । अयं द्विविधः—तत्र (१) सम्भावनारूपः—यथा-अमुको मनुष्यो वैश्योऽस्ति अतो धनिकोऽपिस्यात् । (२) निर्णयरूपः यथा—अमुकस्य पार्श्वे यदि शतमस्ति तत् पंचाशता अवश्यं भाव्यम् ।

४७—ऐतिह्यः—अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम् । चरक में आगम को भी ऐतिह्य कहा है । "तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति ।" च० वि०

स्थान ८।३०। "ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः"—

—च० वि० ८।४३।

४८—प्र० नं० र० २।१

४९—योगजादृष्टिजनितः, स तु प्रातिभसंज्ञितः।

संध्येव दिनरात्रिभ्या, केवलश्रुतयोः पृथक्॥ —अध्या० उप० २।२

५०—'इन्द्रियादिग्राह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवं अर्थ तथा—भावप्रकाशं ज्ञानं प्रातिभेति प्रसिद्धम्—श्वो मे भ्राता आगन्ता'—इत्यादिवत् —न्या० कु० पृ० ५२६।

अपि चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित्।
प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे, भ्रातागन्तेति दृश्यते॥
नानर्थज न सदिग्ध, न वाद विधुरीकृतम्।
दुष्टकारणंन्वेति, प्रमाणमिदमिष्यताम्॥

—(न्या० मं० विवरण पृ० १०६-१०७ जयन्त)

५१—पुव्वमदिट्ठ-मसुय-मवेइय तक्खणविशुद्ध गहिअत्था।

अव्वाह्य फलजोगा, बुद्धि ओप्पत्तियानाम—नं० २

५२—नं० २६

(क) श्रुतम्—सकेतकालभावी परोपदेशः श्रुतग्रन्थश्च।

(ख) पूर्वं तेन परिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले तदनपेक्षमेव यद् उत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम्। यत्तु श्रुताऽपरिकर्मितमतेः सहजमुपजायते तद् अश्रुत-निश्रितम्। —वि० भा० वृ० गाथा-१७७

५३—प्र० न० २।५

५४—प्र० न० ३।२

५५—वि० भा० गाथा ३००-३०६।

५६—अष्टाविंशतिभेदविचारप्रक्रमेऽवग्रहादिमत्त्वं सामान्यं धर्ममाश्रित्य। अश्रुत-निश्रितस्य श्रुत-निश्रित एव अन्तर्भावो विवक्ष्यते, श्रुता-श्रुत-निश्रितविचारप्रस्तावे तु अश्रुतनिश्रितत्त्वं विशिष्टं धर्ममुररीकृत्य श्रुतनिश्रितादश्रुतनिश्रितं पृथगेवेष्यते···। —वि० भा० वृ० ३०५

५७ क—जे विण्णाया से आया···जेण वियाणइ से आया —आचा०

ख—जीवेणं भंते ! जीवे ? जीवे-जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे-जीवेवि "नियमा।"...इ ह एकेन जीवशब्देन जीवो गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमिति...जीवचैतन्ययोः परस्परेणाविनाभूतत्वाद् जीवः चैतन्यमेव, चैतन्यमपि जीव एव...। —भग० वृ० ६।१०

५८—णाणे पुणणियमं आया —भग० १२।१।

५६—स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः।
प्रमेयत्वमपि स्वस्य, प्रमितिश्चेयमागता ॥
—(तत्वा० श्लो० पृ० ४३)

: छह :

१—सतोय अत्थि असतोय नत्थि।
गहरामो दिट्ठिं न गहरामो किंचि ॥ —सू० २-६-१२

२—(क) पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो नु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिवद्धो ॥
—वि० भा० ३४१

(ख) नं० २३

३—केवलनाणेणऽथे नाउं जे तत्थ पण्णवण जोगे। ते भासइ तित्थयरो वइजोग सुअं हवइ सेसं तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम्, तस्य भाषा पर्याप्त्यादिनाम कर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च वाग्योगो भवति श्रुतम्, 'शेषम्' अप्रधान द्रव्य-श्रुतमित्यर्थः; श्रोतृणा भावश्रुतकारणतया द्रव्यश्रुतं व्यवह्रीयते इति भावः।
—नं० वृ० ५६

४—प्र० नं० र० ४।४३

५—(क) इह च प्रथमद्वितीयचतुर्था अखण्डवस्त्वाश्रिताः, शेषाश्चत्वारो वस्तुदेशश्रिता दर्शिताः, तथान्यै स्तृतीयोपि विकल्पोऽखण्डवस्त्वाश्रित एवोक्तः,-तथाहि अखण्डस्य वस्तुनः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च विवक्षितस्य- सहसत्वमिति। अतएवाभिहितमाचाराङ्गटीकायाम्—इह

चोत्पत्तिमङ्गीकृत्योत्तर विकल्पत्रयं न सभवति, पदार्थावयवापेक्षत्वात्, तस्योत्पत्तेश्चावयवाभावात् इति —स्था० वृ० ४।४।३४५

(ख) त० भा० टी० पृ० ४१५

६—भग० २।१।६० ।

७—स्था० १०

८—भग० ७।२।२७३

९—भग०

१०—स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्व ! सुधोद्गतोद्गारपरंपरेयम् ॥

—स्या० मं० २५

११—भग० ८।१०

१२—भग० १३।७

१३—भग० १३-७

१४—भग० १२-१०

१५—य एते सप्त पदार्था निर्धारिता एतावंत एवरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः इतरथा हि तथा वा स्युरितरथा वेत्यनिर्धारितरूपज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् । —ब्रह्म० शां० २।२।३३ ।

१६—Article on the under Current of Jainism" in Jain Sahitya Sansodhak 1920 Vol. I Page 23.

१७—दर्शन० इ० पृ० १३५

१८—पृ० ६४-६५

१९—(क) जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि, सिय नत्थि, जस्स पुण अतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि —भग० ८-१०

(ख) भग० १२।१०

२०—भा० द० पृ० १७३

२१—भा० द० पृ० १७३

२२—पू० प० पृ० ६६-६७

२३—नहि द्रव्यातिरेकेण पर्यायाः सन्ति केचन।
द्रव्यमेव ततः सत्यम्, भ्रान्तिरन्या तु चित्रवत्॥
पर्यायव्यतिरेकेण द्रव्यं नास्तीह किंचन।
भेद एव ततः सत्यो, भ्रान्तिस्तद् ध्रौव्य कल्पना॥
नाभेदमेव पश्यामो, भेद नापि च केवलम्।
जात्यन्तरं तु पश्यामस्तेनानेकान्त साधनम्॥
—उत्पा० २१-२२-२३

२४—आचा० ४।१-२०६

२५—तर्क० (तीसरा भाग) पृ० २०८

२६—Indian Philosophy Vol. 1 Page 305-6

२७—द० दि० अध्याय १५ पृ० ४९८

२८—सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः केवलं मूकत्वं जगतः स्यात् विधि-प्रतिषेधव्यवहारायोगात्… —अ० स० पृ० १२९

२९—अनेकान्तो प्यनेकान्तः, प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणान्ते, तदेकान्तोऽर्पितानयात्॥
—स्वयं० (अरजिन स्तुति) १८

३०—आचार्य प्रवर श्री तुलसी गणी के एक लेख का अंश।

३१—सू० २-५-२६।

३२—नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् —ब्रह्म० शां० २-२-३३

३३—नील-कमल—यह सामानाधिकरण्य है। कमल में नील गुण के निमित्त से 'नील' शब्द की और कमल-जाति के निमित्त से "कमल" शब्द की प्रवृत्ति होती है।

३४—सिय ससरीरी निक्खमई सिय असरीरी निक्खमई —भग० २-१

३५—नह्येकत्र नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादकः स्याद्वादः किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोध द्योतकस्यात्पदसमभिव्याहृतवाक्यविशेषः —न्याय खं० श्लो० ४२

३६—यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैव असत्त्वं, येनैव च असत्त्वं, तेनैव सत्त्व-मभ्युपेयेत तदा स्याद् विरोधः —प्र० न० र० ५

३७—(क) [illegible]
(ख) [illegible]

३८—वही

३९—अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था अथवा—
[illegible]निष्टप्रसंगः अनवस्था।

४०—[illegible]

४१—[illegible]

४२—[illegible]

४३—[illegible] हि वस्तुनो वस्तुत्वम्

४४—[illegible]

४५—[illegible] त्रयो भंगाः सकलादेशाः, चत्वारश्चदेशा-
[illegible] विकलादेशाः। —न० र० पृ० २१।

४६—सर्वं वस्तु सप्तभंगीस्वभाव, ते चाऽमी, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यादस्ति, परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति, अनयोरेव धर्मयो यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वादवक्तव्य, तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु विवक्षितत्वात् कस्यचित्त्वंशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च स्यान्नास्ति चेति, तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति चावक्तव्य चेति, तथैकस्यांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यान्नास्ति चावक्तव्य चेति तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षयाऽन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य चेति।
—(वि० भा० वृ०)

४७—(क) प्र० न० ४
(ख) "अपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदित सप्तभंग—मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम्" ॥
—स्या० म० २३

४८—पमाओय मुणि देहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाण संसओ चेव, मिच्छानाण तहे व ॥
राग दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मिय अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥

४६—अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः ॥

५०—"सशयात्मा विनश्यति"—यह मन की दोलायमान दशा के लिए है। जिज्ञासात्मक सशय विनाशकर नही किन्तु विकासकर होता है। इसीलिए कहा जाता है—"न संशयमनारुह्य, नरो भद्राणि पश्यति···।"

५१—स्था० १०

५२—विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि के २१ कारण हैं। इनसे पदार्थ की उपलब्धि होती ही नहीं अथवा वह यथार्थ नही होती।

(१) अति दूर
(२) अति समीप
(३) अति सूक्ष्म
(४) मन की अस्थिरता
(५) इन्द्रिय का अपाटव
(६) बुद्धिमान्द्य
(७) अशक्य ग्रहण
(८) आवरण
(९) अभिभूत
(१०) समानजातीय
(११) अनुपयोग दशा
(१२) उचित उपाय का अभाव
(१३) विस्मरण
(१४) दुरागम-मिथ्या उपदेश
(१५) मोह
(१६) दृष्टि-शक्ति का अभाव
(१७) विकार
(१८) क्रिया का अभाव
(१९) अनधिगम—शास्त्र सुने विना
(२०) काल-व्यवधान
(२१) स्वभाव से इन्द्रिय-अगोचर

—(वि० भा० वृ०)

: सात :

१—अनेकान्तात्मकत्वेन, व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता, तयास्तित्व चतुष्टये[1] ॥

१—बन्ध, बन्ध-कारण, मोक्ष, मोक्ष-कारण।

मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु, क्रमाक्रमनिवृत्तितः ।
क्रिया-कारकयोर्भ्रं शान्नस्यादेतच्चतुष्टयम् ॥
ततो व्यासा (व्याप्तः) समस्तस्य, प्रसिद्धश्चप्रमाणतः ।
चतुष्टयं सद्-इच्छद्‌भिरनेकान्तोवगम्यताम् ॥ —तत्त्वा० २४६-२५१ ।

२—सू० २।६।४।

३—भग० ७।२।

४—(१) द्रव्य-तुल्य ।
(२) क्षेत्र-तुल्य ।
(३) काल-तुल्य ।
(४) भव-तुल्य ।
(५) भाव-तुल्य ।
(६) सस्थान-तुल्य ।

५—भग० १८।१०।

६—तत् परिणामिद्रव्यमेकस्मिनेवक्षणे एकेन स्वभावेन उत्पद्यते, परेण विनश्यति—अनन्तधर्मात्मकत्वाद् वस्तुनः । —सू० वृ० १।१५।

७—पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद्, आत्मैव मत ईश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोष, कर्तृ वादो व्यवस्थित' ॥ —शा० वा० स०

८—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । —त० सू० ५।२६।

६—(क) सृष्टि-स्थित्यन्तकरणी, ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका ।
स सज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥ —वि० पु० १।२।६६
(ख) एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ··।—ऋग्० १।१६४-४६।

१०—वैदिकोव्यवहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनरार्हतः ।
श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

११—अणोरणीयान् महतो महीयान्···।—कठ० उप० १।२।२०।
(क) सदसद्वरेण्यम्···। —मुण्डकोप० २।२।१
(ख) यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्, यस्मान्नाणीयो नज्यायोऽस्तिकश्चित् । —श्वेताश्व० उप० ३।६।

A

१२—यज्ञोपवीत परमं पवित्र, करेण धृत्वा शपथं करोमि।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया अणोरणीयान् महतो महीयान्॥

१३—One interesting story is told about the explanation of Relativity.
Mrs Enstein did not understand her husband's theories. One day she asked "What shall I say is Relativity ?" The thinker replied with an unexpected parable, "When a man talks to a pretty girl for an hour it seems to him only a minute but let him sit on a hot stove for only a minute and it is longer than an hour. That is Relativity."

१४—करिसण…गउर अट्टालग…फंडोवगरणस्स विविहस्स य अट्टाए पुढविहिंसंति मंदबुद्धिया—प्रश्न (आ० व० द्वार)—१

१५—स्था० २

१६—इह द्विविधा भावाः—तद्यथा हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च। तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः तत्साधकप्रमाणसद्भावात्, अहेतुग्राह्या, अभव्यत्वादयः अस्मदाद्यपेक्षया तत् साधकहेतूनामसम्भवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति। —प्रज्ञा० वृ० पद १

१७—ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता तेषां, कृतःस्यादर्थनिर्णयः॥ —यो० द० स० १४६

१८—(क) नचैतदेव यत् तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान्।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः॥
—यो० द० स० १४७

(ख) अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम्॥
—द्वा० द्वा० ८।७

१६—सर्वे शब्दनयास्तेन, परार्थप्रतिपादने।

स्वार्थप्रकाशने मातु-रिमे ज्ञाननयाः स्थिताः ॥—मी० श्लो० वा०

२०—द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकादभेदवृत्तिः। पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परं व्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोपः, ततश्च अभेदोपचारः।

—तत्त्वा० रा० ४।४२।

२१—तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं, णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो, समुद्देसो, अणुण्णा, अणुयोगो य पवत्तइ।—अनु० २

२२—स्याद्वाद और नय-शब्द बोधजनक हैं—इसलिए आगम हैं।

२३—श्रुत स्वार्थं भवति परार्थं च—ज्ञानात्मकं स्वार्थं-वचनात्मक परार्थं, तद् भेदा नयाः।—सर्वा० सि०

२४—प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थ प्रकाशनात्।

परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि ॥—अनुमानं-प्रतीत प्रत्याय यन्नेवं वचनयति—"अग्निरत्र धूमात्"•• प्रत्यक्षप्रतीत पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।—न्याया० टीका ११।

२५—प्र० वा०—१।१७।

२६—ब्रह्म० शा० २।२।१७।

२७—शुद्धं द्रव्य समाश्रित्य, सग्रहस्तदशुद्धितः।

नैगम-व्यवहारौ स्तः, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ —सन्म० टी० २७२

२८—भग० १८।६।

२९—छान्दो० उप० ६।१।४

३०—भग० १७।२।

३१—यो वस्तूनां समानपरिणामः स सामान्यम्, सच सामान्यपरिणामोऽसमान परिणामाविनाभावी, अन्यथा एकत्वापत्तितः सामान्यत्व स्यैवायोगात्, सच असमानपरिणामो विशेषः उक्तञ्च—

"वस्तुन एव समान परिणामः स एव सामान्यम्।

असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमुभयरूपं तु ॥"

—आव० वृ०—(मलयगिरि पत्र ३७३

३२—स्तुतिश्चैक श्लोक प्रमाण, स्तोत्रं तु बहुश्लोक मानम् ॥
    इ० च० प०—३ गाथा (अभयदेव कृत व्याख्या)

३३—आव ० वृ०—(मलयगिरि)

३४—वस्तुतः क्षणिकत्वादिविशेषणशुद्धपर्यायनैगमो नाभ्युपगच्छत्येव । किञ्चित् काल स्थाय्यशुद्धतदभ्युपगम स्तु सत्तामहासामान्यरूप द्रव्यांशस्य घटादिसत्तारूप—विशेप प्रस्तारमूलतयाऽशुद्धद्रव्याभ्युपगम एव पर्यवस्यतीति पर्यायार्थिलं तस्य, अतएव सामान्य—विशेषविषयभेदेन संग्रहव्यवहारयोरेवान्तर्भावेन शुद्धाशुद्ध द्रव्यास्तिकोऽयमिष्यत इति । [अने० पत्र० १०]

३५—तार्किकाणा नयो भेदा, आद्या द्रव्यार्थतो मताः ।
    सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे ॥ —न्यायो० १८

३६—अनु० १४

३७—न० र०—पृ० १२

३८—न चैवमितरांशप्रतिक्षेपित्वाद् दुर्णयत्वम्, तत् प्रतिक्षेपस्य प्राधान्यमात्र एवोपयोगात्· ·न० र०—पृष्ठ १२

३९—अन्यदेव हि सामान्यमभिन्न ज्ञानकारणम् ।
    विशेषोप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥

४०—तत्वा० रा०—१,४२

४१—यो नाम नयो नयान्तर-सापेक्षः परमार्थतः स्यात् पदप्रयोगमभिलषन् सम्पूर्ण वस्तु गृह्णातीति प्रमाणान्तर्भावी, नयान्तरनिरपेक्षस्तु यो नयः स च नियमान् मिथ्यादृष्टिरेव सम्पूर्णवस्तुग्राहकाभावात्-इति
    [आचार्य मलयगिरि—आव० वृ० पत्र ३७१]

४२—'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणम्, 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्णयः, 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयो न तु संव्यवहाराङ्गम्, 'स्यादस्त्येव' इत्यादि सुनय एव व्यवहारकारणम्··· सन्म० टी० पृ०—४४६

४३—सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थोमीयेत दुर्नीतिनय प्रमाणैः ।
    यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण-पथेन दुर्नीतिपथत्वमास्थः ॥ —स्या० म० २८

४४—(क) स्याज्जीव एव इत्युक्तेनेवोकान्तविषयः स्याच्छब्दः,
    स्यादस्त्येव जीवः इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छाब्दः ।

स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्,
स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम् ॥
—पंचा० टी० पृ० ३२

(ख) पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाण सप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नय सप्तभगी-ज्ञापनार्थमिति भावार्थः ।—प्रव० टी० पृ०१६२

४५—वि० भा० गाथा—२२३२

४६—अने० पृ० ३१

४७—(क) सन्म० पृ० ३१८
(ख) अने० पृ० ५५

४८—नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥

४९—न सोस्ति प्रत्ययो लोके, यःशब्दानुगमदृते ।
अनुविद्धमिवज्ञानं, सर्वं शब्देन भाषते ।""वा० प्र० १२४

५०—तत्त्वा० श्लो०—२३९-४०

५१—स्था० ७।३।५४२

: आठ :

१—भिक्षु न्या० ५-२२

२—भिक्षु न्या० ५-२३

३—भिक्षु न्या० ५।२३

४—भिक्षु न्या० ५।२४ ।

५—भिक्षु न्या० ५।२५

६—भिक्षु न्या० ५।२७ ।

७—आगम सव्व निसेहे, नो सद्दो अहव देस पडिसेहे
"नो शब्द" के दो अर्थ होते हैं—सर्व-निषेध और देश-निषेध ।
यहाँ वो शब्द दोनों प्रकार के निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

: नौ :

१—भिक्षु न्या० १।५।

२—भिक्षु न्या० १।६।

३—भिक्षु न्या० १।८,६,१०।

: दस :

१—भिक्षु न्या० ५।१८-१६।

२—द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्म-देशना।
लोकसंवृतिसत्यं च, सत्यं च परमार्थतः —म० का० २४।८
सम्यग् मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं विभ्रति सर्वभावाः।
सम्यगद्दशो यो विषयः स तत्त्वंमृषाद्दशां संवृतिसत्यमुक्तम्॥
मृषाद्दशोऽपि द्विविधास्त इष्टा दीप्तेन्द्रिया इन्द्रिय दोषवन्तः।
दुष्टेन्द्रियाणां किल बोध इष्ट सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्यमिथ्या॥
—मा० का ६।२३०।२४

३—येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्य परमार्थ सत्।
—छान्दो० उप० ६।८।७
—शा० भा० पृ०६६१

४—We can only know therelative truth but absolute truth is known only to the universal observer mystenons universal Page 138

५—जीवः शिवः शिवोजीवो, नान्तरं शिवजीवयो।
कर्मवद्धो भवेज्जीवः, कर्म-मुक्तः सदा शिवः॥

६—व्यक्ताऽव्यक्तात्मरूपं यत्, पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेपि तद् द्रव्य-मुपादान मिति स्मृतम्॥

७—देखिए इसी ग्रन्थ का अनुमान प्रकरण।

८—सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः स्यान्न सदसत्तो रसतो वां।
—(शां० भा० २-१-१८)

९—सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतो ऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः॥ —(वे० सा०)

सतत्त्वतो यथार्थतः, अन्यथा प्रथा स्वरूपान्तरापत्तिः, तथा दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामः—विकारः ।

१०—"कार्यस्य कारणात्मकत्वात् । नहि कारणाद् भिन्नं कार्यम्" ।

—(शा० कौ० ६)

११—"नहि कार्यकारणयोर्भेदः आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तिभिरभ्युपगम्यते । कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्" ।

—(ब्रह्म शां० २।२।१७)

१२—प्र० वा० २।१४६

१३—भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो ।" —(पञ्चा० १५)

१४—"एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स होइ उप्पादो" ।

—(पञ्चा ६०)

१५—नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तर विगोचरः ।
अर्थान्तर गतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥
तत्रान्धतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य सङ्क्रमः ।
अणोरण्वतरपातो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः ॥ २६ ॥ —द्रव्यानु त०

१६—प्रयोगविस्रसाभ्यां स्यादुत्पादो द्विविधस्तयोः ।
आद्यो विशुद्धो नियमात्, समुदायविवादजः ॥ १७ ॥
विश्रसा हि विना यत्नं जायते द्विविधः सच ।
तत्राद्य चेतनस्कधजन्यः समुदायोऽग्रिमः ॥ १८ ॥
सचित्त मिश्रजश्चान्यः स्यादेकत्वप्रकारकः ।
शरीराणां च वर्णादि, सुनिर्धारो भवत्यतः ॥ १९ ॥
यत् संयोगं विनैकत्वं, तद् द्रव्यांशेन सिद्धता ।
यथा स्कन्ध विभागाणोः सिद्धस्यावरणक्षये ॥ २० ॥
स्कन्ध हेतुं विना योगः, परयोगेण चोद्भवः ।
क्षणे क्षणे च पर्यायाद्यस्तदैकत्वमुच्यते ॥ २१ ॥
उत्पादो ननु धर्मादेः, परप्रत्ययतो भवेत् ।
निजप्रत्ययतो वापि, ज्ञात्वान्तर्नययोजनाम् ॥ २२ ॥

—द्रव्यानु० त० अध्याय ६

१७—पानी जब गर्म होने लगता है तो हमको पहले पानी के रूप में ही प्रतीत होता है। परन्तु जब ताप वृद्धि की मात्रा सीमा-विशेष तक पहुंच जाती है तो पानी का स्थान भाप ले लेती है। इसी प्रकार के क्रमिक परिवर्तन को…मात्रा-भेद से लिंग-भेद कहते हैं। दूसरी अवस्था पहली अवस्था की प्रतियोगी—उससे विपरीत होती है परन्तु परिवर्तन क्रम वहीं नहीं रुक सकता, वह और आगे बढ़ता है और मात्रा-भेद से लिंग-भेद होकर तीसरी अवस्था का उदय होता है, जो दूसरी की प्रतियोगी होती है। इस प्रकार पहली की प्रतियोगी की प्रतियोगी होती है। इसको यों कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत् प्रतिषेध, प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस क्रम से अवस्था-परिणाम का प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधक में अपने संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती में प्रत्येक पूर्ववर्त्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व उनके संकेत

अथर्ववेद कारिका —अथर्व० का०

अध्यात्मोपनिषद् —अध्या० उप०

अनुयोग द्वार —अनु०

अनेकान्त व्यवस्था —अने०

अभिधान चिन्तामणि कोष, —अभि० चि०

अष्टसहस्री —अ० स०

आचारांग —आचा०

आचारांग वृत्ति —आचा० वृ०

आवश्यक वृत्ति —आव० वृ०

इन्द्रियवादी री चौपई —इ० चौ०

Indian Philosophy

उत्तराध्ययन —उत्त०

उत्पादादि सिद्धि —उत्पा०

कठोपनिषद् —कठ० उप०

कर्मग्रन्थ —कर्म०

चरक विमान स्थान —च० वि०

छान्दोग्योपनिषद् —छान्दो० उप०

जैन० तर्क भाषा —जैन० तर्क०

Jain Sahitya Sansodhak

जैन सिद्धान्त दीपिका —जैन० दी०

तर्क भाषा —तर्क० भा०

तर्क शास्त्र —तर्क० शा०

तत्त्वार्थ राज वार्तिक —तत्त्वा० रा०

तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक —तत्त्वा० श्लो०

तत्त्वार्थ सूत्र —त० सू०

तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका—त० भा० टी०
तैतरीयोपनिषद् —तैत० उप०
द्रव्यानुयोग तर्कणा —द्रव्यानु० त०
दर्शन दिग्दर्शन —द० दि०
दर्शनशास्त्र का इतिहास —दर्शन० इ०
दशवैकालिक —दशवै०
धम्मपद —धम्म०
धर्मरत्न प्रकरण —धर्म० प्रक०
नय रहस्य —न० र०
नन्दी वृत्ति —नं० वृ०
नन्दी सूत्र —नं०
न्याय कुमुदचन्द्र —न्या० कु०
न्याय खण्डन खाद्य —न्या० खं०
न्याय दीपिका —न्याय० दी०
न्याय बिन्दु —न्या० बिं०
न्याय भाष्य —न्या० भा०
न्याय मञ्जरी —न्या० मं०
न्याय वार्तिक —न्या० वा०
न्याय सूत्र —न्या० सू०
न्यायावतार —न्याया०
न्यायावतार टीका —न्याया० टी०
न्यायावतार वार्तिक वृति —न्याया० वा० वृ०
न्यायोपदेश —न्यायो०
परिक्षामुख मण्डन —प० मु० मं०
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन —पू० प०
प्रमाण प्रवेश —प्र० प्र०
प्रमाण मीमांसा —प्रमा० मी०
प्रमाण वार्तिक —प्र० वा०

वाद द्वात्रिंशिका (सिद्धिसेन)—वा० द्वा०
विशेषावश्यक भाष्य—वि० भा०
विशेषावश्यक भाष्य वृ०—वि० भा० वृ०
विष्णु पुराण—वि० पु०
वृहदारण्यकोपनिषद् —वृह० उप०
वेदान्त सार—वे० सा०
सन्मति तर्क प्रकरण—सन्म०
सन्मति तर्क प्रकरण टीका—सन्म० टी०
समवायाग—सम०
सर्वार्थ सिद्धि—सर्वा० सि०
सूत्र कृताग—सू०
सूत्र कृताग वृत्ति—सू० वृ०
संयुक्त निकाय—स० नि०
साख्य कौमुदी—सा० कौ०
स्वयंभू स्तोत्र—स्वयं०
स्थानाग—स्था०
स्थानाग सूत्र—स्था० सू०
स्याद्वाद मञ्जरी—स्या० मं०
शारीरिक भाष्य—शा० भा०
शास्त्र वार्ता समुच्चय—शा० वा० स०
श्वेताश्वतरोपनिषद्—श्वेताश्व० उप०
ज्ञान विन्दु—ज्ञा० वि०
ऋग्वेद—ऋग्०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व (पहला भाग)
" " " " (दूसरा भाग)
जैन धर्म और दर्शन
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार-मीमांसा
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा तत्त्व दर्शन
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन
आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च